स्वामी भगवदाचार्य

(द्वितीय खण्ड)

(वेदविषयक प्रश्नोत्तर)

लेखक—

परमहंस-परिव्राजक पण्डितराज-

स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी महाराज

प्रकाशक—
महान्त श्रीकृष्णदासजी
रामानन्दसाहित्यमन्दिर
अट्टा,
अलवर (राजस्थान)

प्रथमावृत्ति

मूल्य सवा रुपया

मुद्रक—ना० ग० शास्त्री ललित
ललित प्रेस, पत्थरगली, वाराणसी-१

स्वामी भगवदाचार्य

(द्वितीय खण्ड)

(वेदविषयक-प्रश्नोत्तर)

स्वातन्त्र्यभानुरनिशं विबुधेषु भायात्,
प्रेयात्समस्तविपदाकरपारतन्त्र्यम् ।
उन्मुक्तबुद्धिविभवाः सुधियोपि तथ्यं,
पश्यन्त्वथ प्रशमयन्तु धियो विषादम् ॥

इस ग्रन्थमे जो प्रश्न है वे स्वकल्पित नहीं है प्रत्युत श्रीब्रह्मचारी योगेश एम० ए० और वेदोके अभ्यासी श्रीमान् व्रजकिशोरप्रसाद-जी शाही (विहार) के भेजे हुए प्रश्न हैं। इनपर मैने बहुत सावधान होकर जो कुछ विचार किया है वे ही विचार यह उत्तर रूपमे निबद्ध हैं।

(१) वेदोकी उत्पत्ति वा अभिव्यक्ति वा रचना किस प्रकार हुई ?

(२) वेद किस प्रकार अस्तित्वमे आये ?

(३) इसका इतिहास क्या है ?

(४) ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे या मन्त्रश्रोता ?

इन प्रश्नोंपर विवेचना। उत्पत्ति और अभिव्यक्तिका प्रायः समानार्थ होनेपर भी दोनों शब्दोंके अर्थोंमे थोड़ासा भेद भी माना

जा सकता है। उत्पत्तिसे पूर्व न होकर कारणव्यापारसे अस्तित्वमे आनेका नाम नैयायिकोके मतसे उत्पत्ति पदार्थ है। साख्योके मतमे कोई भी पदार्थ कभी नहीं है, ऐसा नहीं माना जाता। अतः उनके मतसे सभी वस्तु सदा विद्यमान हैं। अतः उनका कथन है कि उत्पत्तिसे पूर्व रहकर कारणव्यापारसे किसी वस्तुकी अभिव्यक्ति ही उसकी उत्पत्ति मानी जाती है। कितनोंका मत है कि सकल कारणोकी युगपत् उपस्थिति ही उत्पत्ति है। जो कुछ भी हो उत्पत्ति और अभिव्यक्ति शब्द विवादरहित नहीं है। साराश यह है कि अभावसे भावमे आनेको उत्पत्ति कहते हैं और अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्थामे आनेको अभिव्यक्ति कहते हैं। किसीकी उत्पत्ति माननेसे यह तात्पर्य होता है कि वह पहले नहीं था अब हुआ है। इसीको अभावसे भावमे आना कहा जाता है। किसीकी अभिव्यक्तिका अर्थ यह समझा जाता है कि वह कहीं छिपा हुआ था, किसी कारणसे अदृश्य और अदृष्ट था और वह अब प्रकट हुआ है। रचनाशब्दार्थ भी उत्पत्तिका ही अनुगमन करता है। मै उत्पत्ति और रचनाको समानार्थक मानकर ही विचार करता हूँ कि वेदोकी रचना किस प्रकारसे हुई।

सबसे प्रथम तो मुझे यह समझाना चाहिये कि इस प्रश्नका उत्थान क्यो हुआ और इसकी दुरूहतामे कारण क्या है। हमारी बुद्धिमे यह बात परम्परासे ठंसी हुई है कि वेद ईश्वरीय हैं अत एव वह अपौरुषेय हैं। अपौरुषेय उसे कहते है जो पुरुषप्रयत्नजन्य न हो। इसी परम्परागत ज्ञानसे हम इस प्रश्नके लिये परतन्त्र है। यदि हम परतन्त्र विचारोके पारतन्त्र्यपाशसे विमुक्त हो जायँ तो यह प्रश्न कभी हमे विह्वल नहीं बना सकता। हमने ही पाप और पुण्यकी सृष्टि कर ली तब हम ही उससे पीडित होने लग गये। हमने ही पाप बनाये, हमने ही पुण्य बनाये। धर्म भी हमारी ही सृष्टि है

और अधर्म भी हमारी ही सृष्टि है। न कोई ईश्वर है और न ईश्वरनिर्दिष्ट कोई धर्म अथवा अधर्म है। हमने ही धर्म, अधर्म-पाप-पुण्य बनाये और हमने ही ईश्वरको बना डाला। हमने ही हमारे ईश्वरको लाचार किया कि वह हमारे ही कल्पित धर्म-अधर्मको या पाप-पुण्यको धर्म-अधर्म या पाप-पुण्य मान ले तथा हमारे ही नियत किये गये हुए पाप-पुण्यके फलस्वरूप सुख और दुःख भी वह दे। परिणाम यह हुआ कि मानवजीवन व्याकुल हो गया और वह कभी भी स्थिर नहीं सका।

हमने मान लिया कि वेद ईश्वरीय है परन्तु हमारे पास इसके लिये कोई उचित और बुद्धिग्राह्य तर्कसम्पत्ति नहीं है। वेदने कहा, गोमेध करो। गोमेधमें गोवध अनिवार्य अंश है। पूर्वकालमें गोवध धर्म था। कभी उसके लिये किसीके मनमे अधर्म होनेकी शङ्का भी नहीं हुई। वह धर्म बन गया। वह समय अतीत हो गया। आज गोमेध अधर्म है। आज यदि गोमेध किया जाय तो भी गोवध अशक्य है। हमने कैसी कठपुतली नचायी? उस समय ईश्वरसे भी हस्ताक्षर करा लिया कि गोवध धर्म है। पीछेसे गोवध अधर्म है, इसपर भी हस्ताक्षर करा लिया। ईश्वरने दोनो मन्तव्योपर मुहर लगा दी क्योकि वह हमारे अधीन है, हम उसके अधीन नहीं हैं। अब आप समझ सकते हैं कि गोवध धर्म है या अधर्म है, इसका निर्णय करना कितना कठिन कार्य है।

एवम्, ईश्वरको और वेदोके ईश्वरीयत्वको मान लेनेके पश्चात् वेदोकी उत्पत्ति, वेदोकी रचना, वेदोका प्राकट्यकाल आदिके विचार और उन विचारोमेसे किसी सर्वतन्त्रसिद्धान्तका स्थिर करना कितना कठिनतर कार्य है इसे विवेचनाकुशल विद्वान् ही जान सकते हैं।

यदि एक सत्य वस्तु मान लिया जाय कि न तो कोई ईश्वर

है और न वेद ईश्वरीय है तब इस प्रश्नके चारो ओर बिछा हुआ दुरूहताका जाल स्वयं ही नष्ट हो जाता है और प्रश्न अत्यन्त सरल बन जाता है। इसका उत्तर भी तब सरल बन जाता है। तब प्रश्न—उत्तरका प्रकार यह होगा—

प्रश्न—वेदोकी उत्पत्ति या रचना किस प्रकारसे हुई ?

उत्तर—जैसे अन्य ग्रन्थोकी हुआ करती है।

प्रश्न—अन्य ग्रन्थोकी रचना कैसे होती है ?

उत्तर—मनुष्यके अभिनव विचार, मनुष्यकी नित्य उगती और बढ़ती हुई आवश्यकताएँ ग्रन्थरचनाके लिये मुख्य कारण हैं। उन्हीं विचारोका सार्वत्रिक प्रचार और उससे होनेवाली ज्ञान-वृद्धि भी एक उत्तम कारण है। ऐसे ही जिस समय वेदोकी रचना होती रही उस समय लोगोके नित्य नये-नये विचार भी इसकी रचनामे कारण थे, नित्यकी आवश्यकताएँ भी उसमे कारण थीं।

उदाहरणके लिये थोडेसे मन्त्र ले लिये जायँ।

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ ऋ० १।१।१॥

किसीके मस्तिष्कमे यज्ञका विचार आया—उसमे वह लीन हो गया। उस तल्लीनतामे उसे कुछ प्रयोजन भी सूझे और उसने उपर्युक्त मन्त्रकी रचना की।

किसीको जलकी आवश्यकता प्रतीत हुई। जलके धर्मोंका उसने प्रत्यक्ष किया। जलके उपयोगका विज्ञान भी उसे विदित हुआ। उसने मन्त्र बना दिया—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः॥

किसीको जगत्‌में अनेकत्वका दर्शन हुआ। उसने कहा—

अग्ने देवाँ इहावह सादया योनिषु त्रिषु।
परि भूष पिब ऋतुना॥ ऋ० १।१५।४॥

एक ऋषिने वायुसे कहा—

वायो ये ते सहस्रिणो रथासस्तेभिरा गहि।
नियुत्वान्त्सोमपीतये॥ ऋ० २।४१।१॥

एकने कहा—

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि॥ ऋ० १०।१८६।२॥

एक ऋषिको एकत्वका दर्शन हुआ और उसने लिखा—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ शु०
यजु० ३२।१॥

एक ऋषि ईर्ष्याप्रधान था, उसने कहा—

'योस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।

एक ऋषिने कहा—

तं भस्मसा कुरु।

एक ऋषिने कहा—

शास इत्था महाँ अस्यमित्रखादो अद्भुतः।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन॥
वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
विमन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः॥

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ प्रतन्यतः ।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥
ऋ० १०।१५२।१,३,४॥

सत्य बात तो इतनी ही है कि वैदिक ऋषियोके मनमे जिन विचारो अथवा भावोका स्फुरण होता था उन्हें वे लोग तत्कालीन गानेके रागोमे गूँथ लिया करते थे। सभाओमे, समितियोमे उनका गान भी वे करते रहे होगे। जैसे आजकलके प्रेसोने—मुद्रायन्त्रोने ईश्वरादि देवी-देवोके भिन्न-भिन्न प्रणेताओके प्रणीत स्तोत्रोको ऐच्छिक क्रमसे छाप लिया है वैसे ही कोई काल होगा—बहुत प्राचीनकाल होगा जब कि सब ऋषियोके गान संगृहीत कर लिये गये। किन्हीं ऋषियोने संग्रहके पश्चात् भी गान निबद्ध किये और पीछेसे वे भी उन्हींके नामोसे चाहे जहाँ संगृहीत हो गये। यजुर्वेद बहुत स्वादिष्ठ वेद नहीं है तथापि वह भी अस्तित्वमे आया परन्तु ऋग्वेदसंग्रहके पश्चात् ही। ऋग्वेदके कुछ मन्त्रोका गान किसी अच्छे ढङ्गसे किसी मधुरकण्ठ ऋषिने कर दिया होगा अतः उन्हीं मन्त्रोको सामवेद कहा गया। सामशब्दका अर्थ भी शान्त है। बहुत शान्तिसे प्रियव्रतकण्ठसे वह गाये गये होगे। आज भी वह कोकिलकण्ठ उद्‌गाताके कण्ठसे ही प्रिय लगते हैं। इसी क्रमसे तीन वेदोका अस्तित्व बहुत समय तक रहा और त्रयीके नामसे उनकी प्रसिद्धि होती रही। पीछेसे अथर्ववेद आया। उसके आनेका भी यही क्रम होना चाहिये। कुछ अरहस्यज्ञ लोगोने इस चतुर्थवेदको जादू-टोनेका वेद या जादूका पिटारा कहकर प्रसिद्ध किया।

दिवङ्गत वेदके महापण्डित श्रीमधुसूदनशर्मा मैथिलने महर्षिकुलवैभव नामक अपने ग्रन्थमे लिखा है—**'तथा चैषामृषीणां**

शब्दरचनाकर्तृत्वाभिप्रायेण मन्त्रकर्तृत्वम्, देवतादिविज्ञानसाक्षात्कर्तृत्वाभिप्रायेण तु मन्त्रद्रष्ट्रत्वमित्युभयं समञ्जसं भवति।' इस प्रकरणमे विचार यह उपस्थित था कि ऋषिशब्दका क्या तात्पर्य है? ऋषि वेदकर्ता थे या वेदार्थद्रष्टा थे? उत्तर यह दिया गया कि वेदोकी शब्दरचना तो ऋषियोकी है परन्तु उनमे जो देवतादिविज्ञान है वह तपोद्वारा प्राप्त परमेश्वरानुग्रहसे प्रत्यक्ष किये गये है। अतः ऋषि मन्त्रद्रष्टा भी है। मैथिलजीके इन शब्दोसे मेरा मत सर्वथा स्पष्ट हो रहा है कि मन्त्रोके रचयिता भिन्न-भिन्न ऋषि थे। रचनाकालमे उन्हे देवतादिविज्ञान सूझा था और वह ईश्वरीय था इतना ही वह विशेष कह रहे हैं। मै कहता हू कि वह विज्ञान भी उन ऋषियोका अपना ही था। उसमे ईश्वरप्रेरणाका समावेश करके उनके महत्त्वको मै नष्ट नहीं करना चाहता।

यह सब तो हुईं सीधी और सत्य बातें। अब आगे चलें।

प्रश्न—वेदोके मन्त्र अन्तरिक्षमे मूर्तिमान् थे। दिव्यदर्शी ऋषियोने उन मन्त्रोंको मूर्तिमान् देखा और उनको ध्वनिप्रधान शब्दोमे व्यक्त किया। अत एव ऋषि मन्त्रद्रष्टा भी थे और मन्त्रस्रष्टा भी।

उत्तर—यह सिद्धान्त अयुक्त है। अन्तरिक्षमे वेदोके मन्त्र स्वतः ही अनादिकालसे थे, यही कल्पना है। परन्तु अनादिकालसे किसी मन्त्र या श्लोकका अन्तरिक्षमे रहना अनुपपन्न है। हम यह अनुभव करते हैं कि थोड़ी दूरपर वेदमन्त्रपाठ होता हो तो हम उसे सुनते हैं। अन्तरिक्षमे वह मन्त्र रहते है परन्तु अनादिकालसे नहीं। उसका आदि होता है और उसे हम जानते हैं। वे मन्त्र किसीके बोले हुए ही होते हैं। बोलनेवाला, बोले हुए वे मन्त्र दोनो ही अनादि नहीं, सादि है, अनन्त नहीं सान्त है। वेदमन्त्र यदि

अन्तरिक्षमे मूर्तिमान थे तो उनका बोलनेवाला कौन था ? परमेश्वर या अन्य ? यदि अन्यके बोले हुए वह मन्त्र थे तो अनादि नहीं थे। यदि ईश्वरके बोले हुए थे तो ईश्वरने अनादिकालसे उनका उच्चारण क्यो कर रखा था ? वह उच्चारण निरर्थक ही था क्योकि प्रलयकालमे उनका कोई श्रोता ही नहीं था। यदि कहे कि अनादिकालसे वह वेद उच्चरित नहीं थे किन्तु ऋषिकालमे ही उच्चरित हुए थे और उन्होने उन मन्त्रोका साक्षात्कार कर लिया, तो यह भी असङ्गत ही है। सृष्टिके आरम्भमे अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ये चार ही ऋषि तो नहीं थे। अन्य ऋषि भी थे तो क्या कारण है कि उन चारने ही वेदोका श्रावण साक्षात्कार किया और अन्य नहीं कर सके ? सबसे बड़ी बात तो यह है कि ईश्वर साकार है ही नहीं, निराकार ही है। निराकर ईश्वर कण्ठ्य तालव्यादि शब्दोको बोलनेमे सर्वथा असमर्थ है।

'ऋषियोने मन्त्रोको मूर्तिमान् देखा और उनको ध्वनिप्रधान शब्दोमे व्यक्त किया' इस कथनका यदि इतना ही तात्पर्य हो कि **"अग्निमीडे पुरोहितम्"** इस मन्त्रका किसीने दूरस्थानमे—दूर देशमे उच्चाचरण किया और वे शब्द इसी क्रमसे वायुतरङ्गोके द्वारा श्रोताके पास पहुँचे। श्रोताने श्रुतिसे उन्हे सुना और वैसा ही उच्चारण कर दिया या कण्ठस्थ कर लिया तब तो यह किसी अंशमे बन सकता है। परन्तु शब्दोकी नीली-पीली कोई मूर्ति थी, ऋषियोने उसे ऑखोसे देखा और अपने शब्दोमे उनका उच्चारण किया यह भ्रष्ट विज्ञानकी वार्ता अविश्वसनीय है। किसी शब्दकी कोई मूर्ति देखकर उसका उच्चारण नहीं किया जा सकता। आज हम 'क' शब्दकी किसी लिपिमे भी मूर्ति देखकर उसका उच्चारण कर लेते है वह तो इसलिये कि हम उस लिपिके पण्डित है। एक बालक या अपठित युवा उस मूर्तिको बोल नहीं सकता। प्रारम्भिक

ऋषि कुछ पढ़े लिखे तो थे ही नहीं। तत्काल ही तो वह शरीरधारी बने थे तब तत्काल ही वेदमूर्तियोको देखना, उनका उच्चारण करना यह सब कुतूहलकी बाते है। अवकाशकालमे कहने सुननेकी बातें हैं—समझनेकी तो नहीं ही।

प्रश्न—जैसे श्रीकृष्णने अपना दिव्यस्वरूप अर्जुनको दिखलाया तो अर्जुनने कहा—

'पश्यामि देवास्तव देव देहे,
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंधान् ।'

और उसने विश्वरूपका वर्णन किया। उसी प्रकार भगवान्‌के वेद-स्वरूपको उन ऋषियोने देखा और उसका 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इन शब्दोमे स्तुति करते हुए वर्णन कर दिया अतः ऋषि मुख्यरूप-से मन्त्रद्रष्टा थे और गौणरूपसे मन्त्रस्रष्टा।

उत्तर—इस पक्षमे ऋषियोको मन्त्रश्रोता न मानकर मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रस्रष्टा माना गया है। मन्त्रश्रोता इसलिये नही माना गया कि वेदमन्त्रको भगवान्‌का-परमेश्वरका एक स्वरूप मान लिया गया और स्वरूपका दर्शन होता है न कि श्रवण। वस्तुतः वेद या वेदमन्त्र ईश्वरके स्वरूप नहीं हैं। यदि वह कुछ हो सकते हैं तो ईश्वरके ज्ञान हो सकते हैं। ईश्वरका ज्ञान ईश्वर नहीं होता। ज्ञानकी भी कोई मूर्ति नहीं होती। गीतामें भी कहीं यह नहीं लिखा है कि विश्वदर्शनकालमें उसमे चारोवेदोके भी दर्शन किये थे। वस्तुतः न तो कोई ईश्वर है, न उसका कोई ज्ञान है और न वेद उसके स्वरूप हैं। वेद ऋषिप्रणीत हैं इतना ही मानना उचित वैदुष्य है। मन्त्रद्रष्टा न मानकर ऋषियोंको मन्त्रस्रष्टा मानना ही योग्य है। यदि मन्त्रस्रष्टाके ही अर्थमे मन्त्रद्रष्टाका प्रयोग किया गया है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

वेदोंको श्रुति इसलिये नहीं कहते कि वह आकाशमे थे और

ऋषियोने उन्हे सुन लिया, प्रत्युत एकने उन्हे बनाया, दूसरोने परम्परया उन्हे सुना अतः वह श्रुति कहे जाते है।

प्रश्न—जैसे गुरुत्वका नियम और गतिका नियम प्रकृतिमे पूर्वसे ही विद्यमान था और भविष्यमे भी रहेगा। परन्तु न्यूटनके पहले इसे लोग जानते नहीं थे। न्यूटनने इसे देखा और लिखा। वस्तुतः न्यूटनलिखित शब्द न तो गतिका नियम है और न गुरुत्वका। उसी प्रकार अन्तरिक्षमे विद्यमान नैतिक, वैज्ञानिक, और सामाजिक अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक नियमोका उन ऋषियोने प्रत्यक्ष किया और उन्हे कहा, वे ही वेदमन्त्र हैं। वस्तुतः ये नियम या सत्य अन्तरिक्षमे सर्वदा विद्यमान हैं न कि अन्यके शब्दोमे। अत एव ऋषि द्रष्टा या आविष्कर्ता थे न कि स्रष्टा और श्रोता।

उत्तर—इस पक्षमे श्रोतृत्वके साथ ही स्रष्टृत्वका भी निषेध करके ऋषियोको द्रष्टा और आविष्कर्ता कहा गया है। यह भी योग्य मार्ग नहीं है। अन्तरिक्षमें नीति, विज्ञान और समाज नियम नहीं रहा करते। इनका नवनिर्माण हुआ करता है। उनका निर्माता मनुष्य है। न्यूटनके गुरुत्वाकर्षणके प्रत्यक्षीकरणके साथ प्रस्तुत विषयका कोई सम्बन्ध नहीं है। गुरुत्वमात्र प्रकृतिमे माना जा सकता है परन्तु उसका ज्ञान, उसके सिद्धान्त, उसका प्रतिपादन प्रकृतिमे नहीं हैं। वे सब मनुष्यके छोटेसे मस्तिष्कमे हैं। मनुष्य ही उनका संशोधन, प्रकाशन, प्रतिपादन आदि करता रहता है। न्यूटनके शब्द गुरुत्वके नियम भले न हो परन्तु प्रकृतिमे रहे गुरुत्वाकर्षणके नियमके बोधक तो अवश्य ही हैं। अतः न्यूटन गुरुत्वाकर्षणके नियमोका आविष्कर्ता माना जाता है। ऋषि भी यदि कुछ नियमोका ज्ञान प्रकृतिसे ही प्राप्त कर सके हो तो वह भी वेदके आविष्कर्ता माने जा सकते हैं क्योकि इस अर्थमे वेद

अर्थात् प्रकृतिके नियम। वह द्रष्टा भी माने जा सकते है। उन्होने प्रकृतिस्थ नियमोका साक्षात्कार करके अपनी भाषामे रख लिया अतः वे उसके स्रष्टा भी हैं। एक ऋषिसे दूसरेने सुना, दूसरे से तीसरेने सुना, इस क्रमसे वह श्रोता भी है। अर्थात् ऋषियोमे श्रोतृत्व, स्रष्टृत्व, आविष्कर्तृत्व, द्रष्टृत्वादि सब कुछ अलग-अलग मेरी रीतिसे सिद्ध हैं।

मैने ऊपर कहा है कि वेदोकी उत्पत्तिके लिये न्यूटनकी शोधके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योकि नियम तो प्रकृतिमे प्रकृति-सहजात हैं, इसमे किसीको भी कोई विवाद नहीं है। परन्तु वेद किसीके स्वाभाविक नियम नहीं है। वेद-वेद है—शब्द हैं—शब्द-राशि हैं। उनमे उन नियमोका भी उल्लेख है जिन्हे प्रकृति अपने साथ लेकर आयी है। उन नियमोका भी उल्लेख हैं जिन्हे जन-समाजने शताब्दियोमे, सहस्राब्दियोमे बनाया था।

प्रश्न—वेदका अर्थ ज्ञान है। ज्ञान पूर्वसे ही सर्वत्र विद्यमान रहता है। यह बुद्धिसे उत्पादित नहीं होता। बुद्धिके पास कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो बाहरसे न आया हो। विश्वमे ज्ञान वा वेद सदा ही वर्तमान है। हम उसी ज्ञान या सत्यको वेद कह सकते हैं। उन ऋषियोने उन सत्योंको अन्तः अनुभूत किया और सबको उनका उपदेश दिया। अत एव ऋषि लोग इमैनुएल कान्टके अनु-भूतिवादके अनुसार नीतिशास्त्रके उच्चतम सिद्धान्त, अन्तरनुभूति, अन्तरात्माका शब्द-जिसे हम वेद कह सकते हैं—के श्रोता और वक्ता थे, स्रष्टा नहीं।

उत्तर—यह मानना कठिन है कि ज्ञान पूर्वसे ही सर्वत्र विद्य-मान है। यदि ज्ञान केवल द्रव्य हो तो उसकी पृथक्सत्ताका स्वी-कार किया जा सकता है। परन्तु ज्ञान तो गुण भी है और बहु-मतसे वह गुण ही है। प्रश्नकर्ता बन्धुको भी वह गुणरूपसे ही

अभिमत है। गुण द्रव्याश्रित ही रह सकता है। अतः ज्ञान यदि अचेतनका नहीं, चेतनका ही गुण है—धर्म है तो वह चेतनातिरिक्त अन्य आश्रयमे रह ही नहीं सकता।

किंच ज्ञानकी कोई नियत परिभाषा तो हो ही नहीं सकती, तब सभी प्रकारके सभी ज्ञानोका सर्वत्र विद्यमान होना मानना पड़ेगा। तब तो क़ुरान, बायबिल, जन्दावस्ता, जैनसूत्रग्रन्थ-बुद्धशास्त्र ये सब ज्ञान भी सदासे सर्वत्र विद्यमान हैं और तत्तन्मनुष्योको उनकी अनुभूति हुई और वह भी सभी सत्य ज्ञान हैं, ऐसा माने विना कल्याण नहीं है। परन्तु वेदाभिमानीको यह कभी भी माननीय नहीं है।

यदि कोई उदारपुरुष इन सबको भी सत्यज्ञान ही मान ले तो २ + २=४ यह सत्यज्ञान है और वह सदासे ही वर्तमान है तो २+२=५ यह ज्ञान या मिथ्याज्ञान या भ्रमज्ञानका निवास भी वहाँ ही-ज्ञानाधारमे ही माना जा सकता है या नहीं? यदि नहीं तो यह भ्रमज्ञान या मिथ्याज्ञान कहाँसे आ सकेगा? आप मानते है कि बुद्धिके पास कोई भी ऐसा ज्ञान नही है जो बाहरसे न आया हो। बृहस्पति और चार्वाकका ज्ञान भी तो सदासे ही रहा होगा और वह सत्य ही रहा होगा और उसका बृहस्पति और चार्वाकने अनुभव किया—सबको उसका श्रवण कराया। यह सब मानना गले पतित है।

बुद्धिसे अतिरिक्त ज्ञानको माननेमे कोई लाभ नहीं है। बुद्धि पदार्थको जिस रूपमे ग्रहण करती है वही ज्ञान कहा जाता है। बुद्धिने एक मृत्समुच्चयको घटरूपमे देखा, उसी रूपमे उसका ग्रहण भी उसने किया अतः वही घटज्ञान है। कबुम्ग्रीवादिके रूपमे घट देखा गया अतः यह कम्बुग्रीवादिमती व्यक्ति है,—घट है, यही तो ज्ञान है। बुद्धिद्वारा किया हुआ परिच्छेद ही ज्ञान कहा जाता है।

कहने सुननेमे कुछ भेद भासित होता है परन्तु वस्तुतः दोनोमे तात्त्विक अन्तर नहीं है। यद्यपि यह मत साख्यके समान ही है। साख्य भी **बुद्धितत्त्वस्य महत्तत्त्वापरपर्यायस्य परिणामविशेषो ज्ञानम्** (न्या० वृत्ति) अर्थात् महत्तत्व कहो, अथवा बुद्धि कहो उसीका परिणामविशेषज्ञान है। यह बात विश्वनाथने न्यायदर्शनके "**बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्**" (१।१।१५) इस सूत्र पर वृत्ति करते हुए कहा है। ज्ञान बुद्धिका व्यापार है, यह न माने तो न्यायदर्शनके अनुसार तो बुद्धि और ज्ञान ये दोनो शब्द अनर्थान्तर है—समानार्थक हो अतः बुद्धेर्ज्ञानम्='बुद्धिका ज्ञान' यह कहना असङ्गत ही है। वैशेषिक दर्शनके (८।१।१) उपस्कारमे भी कहा गया है—**बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इतिपर्यायाः।**

प्रश्न—वेदमन्त्र आप्तोपदेश अर्थात् यथार्थवक्ताका कथन है। ऋषि लोग यथार्थवक्ता थे। उनका ही कथन वेद है। अत एव ऋषि मन्त्रस्रष्टा थे।

उत्तर—ऋषि वेदोके मन्त्रोके स्रष्टा हैं इसमे तो मुझे कोई विवाद नहीं है। यही तथ्य है। ऋषि लोग यथार्थ वक्ता थे या नहीं, इसे छोड़कर इतना ही कहना उत्तम है कि वे मन्त्रोके-वेदोके रचयिता थे। सृष्टिविज्ञान, सृष्टिक्रम, पुनर्जन्म, जीव, ब्रह्म आदि अनेक विषय आज सहस्रो वर्षोके पश्चात् भी ज्योके त्यो विवादग्रस्त पड़े हुए हैं। अतः वे तबतक यथार्थवक्ता नहीं कहे और माने जा सकते जब तक कि उपर्युक्त विषय निर्विवाद न बन जायं। हा, इस अर्थमे वे अवश्य यथार्थवक्ता कहे जा सकते हैं कि उनका जैसा ज्ञान जिस विषयका था उन्होने उसे वैसा ही प्रकट किया है।

प्रश्न—ब्रह्मा प्रकट हुए। उनके चारो मुखोसे चारो वेद प्रकट हुए। ऋषियोने उनके मुखसे मन्त्रोको सुना अतः ऋषिलोग मन्त्रश्रोता थे।

उत्तर—यहाँपर विचारको जटिल बना दिया गया है। ऋषि लोग श्रोता थे, इस सिद्धान्तमे भी विवादावसर नहीं है। ८८ सहस्र ऋषि सभी मन्त्रस्रष्टा थे, यह तो माना ही नहीं जाता है, माना जा सकता भी नहीं है। जो स्रष्टा नहीं थे वह सभी मन्त्रश्रोता थे। प्रश्न तो वैदिक ऋषियोके लिये उपस्थित है। जिस मन्त्रपर जिस ऋषिके नाम हैं वही उस मन्त्रके द्रष्टा या स्रष्टा, या रचयिता थे। इतना ही मानना है। जिसने जिस मन्त्रको ब्रह्मासे जब सुना तब उसने उस मन्त्रको कण्ठस्थ कर लिया, उसका प्रचार किया, एतदर्थ उन उन मन्त्रो पर उन उन ऋषियोके नाम लिखे हुए है, यदि ऐसा मानें तो भी **भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः** के अनुसार प्रश्न तो अभी खड़ा ही है। जिसने जिस मन्त्रको सुना, और उसका प्रचार किया तब उस मन्त्रका वह ऋषि बन गया तो प्रथम सुनाने वाले ब्रह्माके नामसे ही सब मन्त्र प्रसिद्ध क्यो नहीं हुए। सब मन्त्रोका ऋषि ब्रह्मा ही होना चाहिये। किं च सर्वप्रथम तो सब मन्त्रोको ब्रह्मासे ही सुना था तो, सभी मन्त्रोका ऋषि ब्रह्मा ही क्यो नहीं बन सका? सत्य वस्तु तो यही है कि जिस मन्त्रके जो ऋषि रचयिता थे उनके नामका उल्लेख उसी मन्त्रके ऊपर हुआ है। कभी कभी तो मन्त्रका ऋषि ही मन्त्रका देवता बन गया है। कमसे कम उसका नाम तो उस मन्त्रमे उपस्थित है ही।

आरम्भमे जिन चार प्रश्नोका उल्लेख किया गया है उनका उत्तर सामूहिकरूपसे हो चुका। परन्तु स्पष्टार्थप्रतिपत्तिके लिये संक्षेपमे उत्तरका स्वरूप यह है—

(१) वेदोकी रचना ऋषियोने ही की है।

(२) ऋषियोके नित्य नये ज्ञान, नित्य नये अनुभव और नित्य नयी आवश्यकताओने वेदको अस्तित्वमे लानेके लिये प्रधान हेतु थे।

(३) किस ऋषिने किस मन्त्रको कब बनाया, इसका इतिहास वैदिक साहित्यमे नहीं है। क्यो बनाया, इसका उत्तर तो हो सकता है परन्तु कब बनाया इसका निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता।

यजुर्वेदके सम्बन्धमे एक इतिहास प्रचलित है। कहा जाता है कि—

'भगवान् याज्ञवल्क्यने अश्वरूपधारी आदित्यसे यजुर्वेदका अध्ययन किया। वैशम्पायनने व्याससे यजुर्वेद पढ़ा था।•वैशम्पायन बहुतसे छात्रोको वेद पढ़ाया करते थे। किसी समय वैशम्पायनको बालब्रह्महत्याका पाप लग गया। उन्होने अपने शिष्योको कहा कि तुम लोग कठिन तप करो। याज्ञवल्क्यने सबकी अवज्ञा करके कहा कि केवल मै ही तप करूँगा। वैशम्पायनने देखा कि याज्ञवल्क्य ब्राह्मणोका अपमान कर रहा है तो क्रोधमे आकर उन्होने याज्ञवल्क्यको कहा कि मुझसे जिस यजुर्वेदको तुमने पढ़ा है उसका वमन कर दो। याज्ञवल्क्यने वैशम्पायनसे पढा यजुर्वेदका छर्दन कर दिया और अन्य यजुओको ढूँढता हुआ वह आदित्यके पास पहॅुचा। आदित्यसे याज्ञवल्क्यने यजुर्वेदका पुनः अध्ययन किया। यह यजुर्वेद शुक्ल यजुर्वेदके नामसे प्रसिद्ध है। जिस यजुः का याज्ञवल्क्यने वमन किया था उसे अन्य ऋषियोने तित्तिरिका रूप धारणकर चोचसे चुन लिया-खा लिया। वह तैत्तिरीय यजुर्वेद कहा जाता है। उसीका कृष्णयजुर्वेद भी नाम है। यजुर्वेदकी दो शाखाएं हुईं—वाजसनेयी और तैत्तिरीया। वाजी=अश्व। अश्वके रूपमे सूर्यने, सनि–दान–दिया=उपदेश दिया अत एव वह वाजसनी अथवा वाजसनेयी भी कहे जाते है। वाजसनिका पुत्र वाजसनेय याज्ञवल्क्य है। उसने जिस शाखाको पढा वह वाजसनेयी है। उसके पढ़नेवाले वाजसनेयिन् कहे जाते है।

याज्ञवल्क्यने कण्व, मध्यन्दिन आदि १५ शिष्योको इस शाखाका अध्ययन कराया था यही शाखा शुक्ल यजुर्वेद है।

यह शाखा शुक्लपदसे क्यो विभूषित हुई, इसके दो कारण कहे जा सकते हैं। एक तो यही कि सूर्यसे पवित्र यजुओका याज्ञवल्क्यने अध्ययन किया था अतः वह शुक्ल है–शुद्ध है–प्रकाशित है। दूसरा हेतु यह है कि शुक्ल यजुर्वेदमे भी और कृष्णयजुर्वेदमे भी ब्राह्मणपाठोका बाहुल्य है। याज्ञवल्क्यके यजुर्वेदमे ब्राह्मणपाठ और मन्त्रपाठ पृथक् प्रतीत हो जाते हैं परन्तु कृष्णयजुर्वेदमे यह विविक्तता उपलब्ध नहीं होती है अत एव याज्ञवल्क्य-पाठ यजुर्वेद शुक्लकी उपाधिसे विभूषित हुआ।

तैत्तिरीय शाखा कृष्णयजुर्वेदके नामसे प्रख्यात हुई। इसके भी दो कारण हैं। एक तो यही कि वह वान्त वस्तु है। दूसरा कारण अभी ऊपर कहा ही गया है कि उसमे मन्त्र और ब्राह्मणका संमिश्रण है और शीघ्र पता नहीं लगता है। चरक, अध्वर्यु आदि इसके अध्येता थे।

परन्तु चरणव्यूहके भाष्यमे लिखा है कि शुक्लवर्णवाले सूर्यने मध्याह्नमे इस वेदको याज्ञवल्क्यको पढ़ाया अतः यह शुक्ल यजुर्वेदके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

यजुर्वेदका जो इतिहास मैने ऊपर लिखा है वह श्रीमद्भागवतके आधार पर है।

ऋग्वेदका कोई इतिहास मुझे विदित नहीं है।

सामवेदका इतिहास अवश्य ज्ञातव्य है परन्तु कहींसे अभीतक मुझे उपलब्ध नहीं हुआ है।

सामवेद लगभग सभी ऋग्वेद ही है। उसकी अलग संज्ञा कैसे प्राप्त हुई यह शङ्का सबके मनमे उठती ही होगी परन्तु कोई श्रद्धेय समाधि है नहीं।

अथर्ववेदका यज्ञमे उपयोग अत्यल्प है।

ऋग्वेदसे हौत्रप्रयोग, यजुर्वेदसे आध्वर्यव प्रयोग, सामवेदसे औद्गात्र प्रयोग होता है।

पादबद्ध गायत्री आदि छन्दोकी जिसमे व्यवस्था है उसे ऋक् कहते हैं।

वही ऋक् जब गानविशिष्ट होती है तब उसकी सामसंज्ञा होती है।

इन दोनोसे भिन्न मन्त्रोको यजुः कहते हैं।

शेषे ब्राह्मणशब्दः (मी० २।१।८।३३) ऋग्, यजुः, सामके लक्षणोसे जो अतिरिक्त हैं उन्हे ब्राह्मण कहते हैं। हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परक्रिया, पुराकल्प, व्यवधारण-कल्पना, उपमान ये दश ब्राह्मणके लक्षण है। इनमेसे तीन शब्द अप्रसिद्ध हैं उनके अर्थ लिख देता हूं। **परक्रिया**=एक पुरुषकर्तृक उपाख्यानको परक्रिया कहते है। **पुराकल्प**=बहुकर्तृक उपाख्यानको पुराकल्प कहते हैं। **व्यवधारणकल्पना**=जहाॅ अन्यरूपसे अर्थ ज्ञात हुआ हो परन्तु पूर्वापरका विचार करके अन्य अर्थकी कल्पना की जाय उसे व्यवधारणकल्पना कहते हैं।

आरण्यक—ब्राह्मणका ही एक भाग होता है। परन्तु इसमे कर्मकाण्डका प्रतिपादन नहीं होता। उसके उपदेश अरण्यमे रहकर पालनीय होते हैं अत एव वह आरण्यक कहे जाते हैं। कितने ही विद्वानोका मत है कि जो भाग अरण्यमे रहकर रचित हुआ है वह आरण्यक कहा जाता है। परन्तु यह उचित व्याख्या नहीं प्रतीत होती है। सब भाग तो आश्रममे बैठकर लिखे गये तब थोड़ेसे भागके लिये वह अरण्यमे क्यों चला जायगा। कि च आरण्यकमे भी ब्राह्मण तो होते ही हैं तब अरण्यमे जानेका कुछ लाभ नहीं हुआ।

उन्हीं आरण्यकोमेसे उपनिषदोका दोहन हुआ है। दशोपनिषद् मुख्य मानी गयी है उसका कारण इतना है कि ये उपनिषद् ब्राह्मण या आरण्यका ही अङ्ग हैं। कुछ उपनिषद् स्वतन्त्र भी हो सकती हैं। अथवा किसी अप्राप्य, दुष्प्राप्य ब्राह्मण और आरण्यकमे उनका भी पता हो। ब्राह्मण और आरण्यकोमे जो उपनिषद् निबद्ध हैं वह निम्नलिखित हैं—

बृहदारण्यकोपनिषद्— शतपथ ब्राह्मणका एक भाग
छान्दोग्योपनिषद् — ताण्ड्यमहाब्राह्मणका एक भाग
ऐतरेयोपनिषद् — ऐतरेय ब्राह्मणका एक भाग
तैत्तिरीयोपनिषद् — तैत्तिरीयारण्यकका एक भाग
केनोपनिषद् — जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणका एक भाग
कौषीतकिउपनिषद्— कौषीतकिब्राह्मणका एक भाग
महानारायणोपनिषद्— ब्राह्मणका एक भाग
श्वेताश्वतरोपनिषद्—कृष्णयजुर्वेदीयश्वेताश्वतरसंहितका एकभाग
कठोपनिषद् —कृष्णयजुर्वेदीयकठशाखाकी उपनिषद्

प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद् } ये तीनों उपनिषद् अथर्ववेदीय मानी गयी हैं परन्तु ये स्वतन्त्र है या किसी ब्राह्मण अथवा आरण्यकके भाग है, मुझे पता नहीं।

ब्राह्मण—प्रत्येक वेदके कई ब्राह्मण हैं। परन्तु कुछ उपलब्ध है, कुछ नहीं। चारो वेदोंके मुख्य उपलब्ध ब्राह्मण ये हैं:—

ऐतरेय—ऋग्वेदका ब्राह्मण
शतपथ—यजुर्वेदका ब्राह्मण
ताण्ड्य या पञ्चविंश }—सामवेदका ब्राह्मण
गोपथ—अथर्ववेदका ब्राह्मण

उपवेद—चार उपवेद भी उपलब्ध हैं। वे निम्नलिखित है–

१—आयुर्वेद (ऋग्वेदका)
२—धनुर्वेद (यजुर्वेदका)
३—गान्धर्ववेद—(सामवेदका)

अर्थवेद या अर्थशास्त्र —(अथर्ववेदका)

अंग—वेदोंके छः अङ्ग माने गये है। उनके नाम यह है— (१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्द, (६) ज्यौतिष।

शिक्षा—स्वर व्यञ्जनादिके स्वरूपज्ञान तथा उच्चारण आदिका साधन।

कल्प—शाखान्तरमे वर्णित विधिका भी स्मरण करके क्रमशः प्रयोगका वर्णन करनेवाले सूत्र ग्रन्थ।

व्याकरण—महाभाष्योक्त सर्वफलोका साधन।

निरुक्त—शब्दोकी शक्तिका ग्राहक तथा शब्दोके निर्वाचन-का ज्ञान करानेवाला ग्रन्थ।

छन्द—अक्षर और पाद व्यवस्थाका नियमन करके-काव्यकी दीक्षा देनेवाला शास्त्र।

ज्यौतिष—कर्मके उपयुक्त कालका निर्णय करनेवाला शास्त्र।

उपाङ्ग—धर्मशास्त्र, इतिहास आदि वेदोके उपाङ्ग कहे जाते हैं।

इनके अतिरिक्त वेदोके इतिहासका-उत्पत्ति तिथि, प्रचारतिथि, संग्रहतिथि, आदिके इतिहासका मुझे परिचय नहीं है।

(४) चतुर्थ प्रश्नका उत्तर-प्रत्युत्तर तो सविस्तर ऊपर हो चुका है ।

× × ×

सामसंस्कारभाष्यकी प्रस्तावनाके पृष्ठ ५ पर कुछ प्रश्न किये गये थे उनका उत्तर निम्नलिखित है । उत्तरसे ही प्रश्नका स्वरूप समझा जा सकता है ।

'त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा'

(हे अग्ने, तू अनेक अङ्गिरस् ऋषियोमेसे प्रथम ऋषि है ।) इस कथनसे यह नहीं समझना चाहिये कि अङ्गिरा नामका कोई ऋषि नहीं है । अङ्गिरा ऋषि ही है । उसीका एक विद्यावश अथवा योनिवंश चल रहा था । अथर्ववेदका द्रष्टा-उत्पादक-रचयिता ऋषिका अङ्गिरा वंश था इतना ही कहा जा सकता है । अथर्ववेदका अङ्गिरा ऋषि इस अङ्गिरासे भिन्न है । नामसादृश्यसे व्यक्तियोकी एकता मान लेनेमे भूल होती है । अनेक कालिदासोको एक ही मान लेनेमे किसी भी विद्वान् और विवेकशीलका आश्रय नहीं मिलेगा । अङ्गिरा एक मूल ऋषि है । उसीके वंशोंमेसे अग्नि ऋषि आया था । ऐसा माननेपर अङ्गिरा नामका कोई ऋषि नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता ।

× × ×

अग्नेऋग्वेदः इस शतपथ वचनमें आये हुए अग्नि शब्दका परमात्मा' अर्थ नहीं है । यदि ऐसा मानें तब तो **वायोयर्जुवेदः** के वायुका अर्थ भी परमात्मा ही होगा **आदित्यात्सामवेदः** के आदित्यका अर्थ भी परमात्मा ही होगा । अथर्ववेदका अङ्गिरा भी परमात्मा ही होगा । तब पृथक्-पृथक् नाम लेनेकी आवश्यकता

ही नष्ट हो जाती है। **तस्य निश्वसितं वेदाः** के समान ही **परमात्मनो वेदा अजायन्त'** इतना ही कह देनेसे कार्य समाप्त हो जाता। सैन्धवका अर्थ अश्व और लवण दोनो ही है परन्तु अवसरपर इन दोनोंमेसे अन्यतर अर्थका ही ग्रहण किया जाता है। सर्वत्र सभी अर्थ गृहीत नहीं होते हैं। अतः अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा इन चार ऋषियोमेसे ही ऋग्, यजुः, साम, अथर्ववेद प्रकट हुए है। अतः अग्नि ऋषिका नाम है, परमात्माका नहीं। वही ऋग्वेदका उत्पादक है। वह अङ्गिराके वंशका था। अङ्गिरा वंशका वह प्रथम ऋषि था अथवा श्रेष्ठ ऋषि था।

यदि यह कहा जाय कि **अग्नेर्ऋग्वेदः** मे **अग्नेः** यह पञ्चमी प्रथमाके अर्थमे है। अतः यह अर्थ हुआ कि अग्नि ही ऋग्वेद है। **मुखादग्निरजायत** मे कहा गया है कि परमात्माके मुखसे अग्नि उत्पन्न हुआ। अब दोनोको मिलाकर यह अर्थ होगा कि परमात्माके मुखसे अग्नि उत्पन्न हुआ और वह अग्नि अन्य कुछ भी नहीं है—ऋग्वेद ही है।

तब तो **वायोः आदित्यात् अङ्गिरसः** का अर्थ भी यही करना होगा कि वायु यजुर्वेद है, आदित्य सामवेद है और अङ्गिरस् अथर्ववेद हैं। यदि यह कहें कि जैसे **मुखादग्निरजायत** यह वाक्य अगत्या अग्निको ऋग्वेद बनाता है, ऐसे दूसरे वाक्य दूसरे वेदोके लिये नहीं मिलते हैं। अतः इन तीनोके अर्थ नहीं बदले जा सकते हैं। तब तो फल कुछ नहीं हुआ। ऋग्वेद अग्निस्वरूप बना इतना ही फल हुआ। अवशिष्ट तीन वेद तो ज्योके त्यो ही बने रहे।

किंच 'अग्नि ऋग्वेद' है इस कथनका तात्पर्य क्या हुआ? क्या वेद कोई वस्तु नहीं है और अग्निका ही पर्यायवाचक ऋग्वेद है, यह अर्थ अभिप्रेत है? क्या इस अर्थमे किसी भी विद्वान्की

सम्मति प्राप्त है ? या प्राप्त हो सकती है ? क्या यह अर्थ तो नहीं अभिप्रेत है कि अग्निके समान ऋग्वेद है ? यदि यही अर्थ अभिप्रेत हो तो अग्निकी समानता किस अर्थ और किस भावमे ऋग्वेदके लिये कही गयी है ? इससे विपरीत क्यो नहीं कहा गया कि **वायोर्ऋग्वेदः, अग्नेर्यजुर्वेदः**—वायु ऋग्वेद है और अग्नि यजुर्वेद है। वस्तुतः यह कल्पना निरर्थक ही है।

अग्नेः, वायोः, आदित्यात्, अङ्गिरसः इत्यादि पञ्चम्यन्त ही शब्द हैं। द्वारा भी इनका अर्थ नहीं है। द्वारके लिये करणतृतीयाका ही उपयोग होता है। अग्नि आगका भी नाम है और इस नामके मनुष्य भी हुआ करते थे। अधुनापि, यथा दिवाकर, भानु आदि नाम वाले मनुष्य होते ही है। सूर्य तो प्रसिद्ध ही है। अतः **'अग्निर्हि नः प्रथमजा—'** (ऋ० १०।५।७) **त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोतास्या धियो अभवः'** (ऋ० ६।१।१) इत्यादि मन्त्रोमे आग, परमात्मा आदि है। **'त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः कविर्देवानां परि भूषसि व्रतम्'** (   ) इत्यादि मन्त्रोमे अग्नि किसी ऋषिका नाम है जो अङ्गिरस् वंशमे सर्वश्रेष्ठ था। उसीको देवाना कविः कहा गया है।

जिस ऋषिके बनाये हुए जो मन्त्र है उनके साथ उन ऋषिका नाम आजतक लिखा हुआ चला आ रहा है। कहीं-कहीं ऐसा भी है कि एक मन्त्रके एकसे अधिक भी ऋषि हैं। परन्तु इसमे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। दो ऋषि मिलकर एक मन्त्र बनाये हो, यह असम्भव नहीं है।

प्रत्येक मन्त्रके रचयिताका नाम प्रत्येक मन्त्रके साथ लिखा हुआ है, इसे मान लेनेपर एक प्रश्न यह अवश्य ही होगा कि

वेदोमे एक ही ऋषिके सभी मन्त्र नहीं है। भिन्न-भिन्न ऋषियोके भिन्न-भिन्न मन्त्र है। तब अग्नि ऋग्वेदका उत्पादक है, वायु यजुर्वेदका रचयिता है, आदित्य सामवेदका सग्राहक है, इत्यादि नहीं कह सकते। इसका उत्तर बहुत सन्तिप्त और उचित यह है कि सब ऋषियोके मन्त्रोका संग्रह करके ऋग्वेद नाम रखनेवाले ऋषिका नाम अग्नि था। यजुर्वेदके संग्रहकका नाम वायु ऋषि था। सामवेदके संग्राहकका नाम आदित्य था और अथर्ववेदके संग्राहक-का नाम अङ्गिरस् था। इसपर यह एक दूसरा प्रश्न होगा कि तब अग्नेः, वायोः, आदित्यात्, अङ्गिरसः इनकी पञ्चमी विभक्तिका क्या अर्थ होगा? इसका यह उत्तर होगा कि यह सब अपादान-पञ्चमी न रहकर हेत्वर्थपञ्चमी बन जायँगी। वेदोके प्रकट होनेमे ये ऋषि हेतु थे। पृथगवस्थित मन्त्रोका सग्रह यदि ये न करते और वेदसंज्ञा न बनाते तो 'ऋग्वेद' इत्यादि नाम ही दुर्लभ होते। कितना अच्छा हुआ है कि वेदोके संग्राहक और मन्त्रोके रचयिता सभी महानुभावोके नाम, यश, पुरुषार्थ सुरक्षित रह गये।

वेदोमे इतिहासके सम्बन्धमे मतभेद केवल स्वामीदयानन्द-जीके साथ है। वह दृढतापूर्वक मानते है कि वेद ईश्वरीय है, अपौरुषेय है और इतिहासगन्धसे अलिप्त हैं। परन्तु ईश्वर असिद्ध है अत एव वेदोकी अपौरुषेयता भी असिद्ध ही है। **वेदोऽपौरुषेयः, कर्त्रस्मरणात्** इत्यादि अनुमानोका तो मै खण्डन कर चुका हूँ और उनके कर्ताके नाम भी सिद्ध कर चुका हूँ। यदि यह कहे कि **'आख्या प्रवचनात्'** (मी० १।१।३०) के शबर भाष्यानुसार मन्त्रोपर आये हुए नाम उनके कर्ताके नाम नहीं हैं प्रत्युत उन उन मन्त्रोको जिन जिनऋषियोने बहुत ध्यानसे पढ़ा, उनपर मनन किया, उनका चिन्तन किया उनके नाम हैं; तो इसका उत्तर यह है कि (१) शबरस्वामी का उत्तर

ऋग्वेदादिके मन्त्रो और ऋषियोके लिये नहीं है। उन्होने तो काण्व, काठकादि शाखाओके लिये वैसा लिखा है। देखिये वहाँका प्रकरण इस प्रकार है—

वेदांश्चैके संनिकर्षं पुरुषाख्याः ॥१।१।२७॥ यह पूर्वपक्षका सूत्र है। यहाँ शङ्का यह है कि वेद पौरुषेय है अथवा अपौरुषेय? इसपर पूर्वपक्षका कहना है कि कितने ही लोग वेदोको संनिकृष्ट-काल अर्थात् कृतक है ऐसा मानते है। क्योकि—**पुरुषाख्याः पुरुषेण हि समाख्यायन्ते वेदाः काठकं कालापकं पैप्पलाद-कमिति। न हि सम्बन्धादृते समाख्यानम्। न च पुरुष-स्यान्यः शब्देनास्ति सम्बन्धो यदतः कर्ता पुरुषः, कार्यः शब्द इति। ननु प्रवचनलक्षणसमाख्या स्यात्। नेति ब्रूमः। असाधारणं हि विशेषणं भवति। एक एव हि कर्ता, बहवोपि प्रब्रूयुः। अतोस्मर्यमाणोपि चोदनायाः कर्ता स्यात्।**" पुरुष नामसे ही वेद प्रख्यात हैं, यथा काठक, कालापक, पैप्पलादक इत्यादि। सम्बन्धके विना समाख्या नहीं होती। शब्दोके साथ पुरुषका केवल इतना ही सम्बन्ध हो सकता है कि पुरुषकर्ता है और शब्द कार्य हैं। इसपर पुनः शङ्का भाष्यमें ही की गयी कि काठकादि समाख्या केवल कर्तृ-कार्यभावको लेकर ही हो सकती है, यह नियम नहीं है। प्रवचनादिके आधारपर भी समाख्या हो सकती है। इसका वहाँ ही खण्डन किया गया है। कहा गया है कि विशेषण असाधारण होता है। कठके नामसे काठक, कलापके नामसे कालापक, और पिप्पलादकके नामसे पैप्पलादक संज्ञा बनायी गयी है। ये सब नाम असाधारण हैं। अतः कठ, कलाप, पिप्पलाद ही कर्ता हैं। प्रवचनके लिये नियम

नहीं किया जा सकता कि एक ही प्रवचन करे, सहस्रो भी प्रवचन कर सकते हैं।

इसी प्रकारके उत्तरमे **आख्याप्रवचनात्** यह सिद्धान्तसूत्र है। शबरस्वामी कहते है—कि यदि कठको, कलापको कर्ता माने विना काठक, कालापक इत्यादि समाख्या सिद्ध न हो तभी अर्थापत्तिसे कर्ताकी कल्पना कर सकते हैं। **'येन विना यदनुपपन्नं तत् तेन कल्प्यते'** यही अर्थापत्तिका सिद्धान्त है। परन्तु कर्ता विना भी यह समाख्या सिद्ध होती है। उसके लिये शबरस्वामीने कहा—

'स्मर्यते च वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी। कठः पुनरिमां केवलां शाखामध्यापयाम्बभूवेति। स बहुशाखाध्यायिनां संनिधौ एकशाखाध्यायी अन्यां शाखामनधीयानस्तस्यां प्रकृष्टत्वादसाधारणमुपपद्यते विशेषणम्।'

यह ख्याति है कि वैशम्पायन सर्वशाखाओका अध्ययन अध्यापन करनेवाला था। कठ केवल इसी शाखाके अध्यापनमे लगा रहता था। बहुशाखाध्यायियोकी अपेक्षा केवल एक शाखाध्यायी कठ अवश्य ही उसमे प्रकृष्ट था अतः असाधरण विशेषण उपपन्न है।

दूसरा उत्तर यह है कि यदि अग्नि अमुक मन्त्रोको हो यावज्जीवन पढता रहा और उसमें उसने कुशलतमता प्राप्त कर ली थी तो उसके लिये कोई प्रमाण होना चाहिये। उसने उस मन्त्रके आधारपर कभी कुछ लिखा हो, कहीं प्रवचन किया हो, उसका प्रमाण उपस्थित करना चाहिये। ऋग्वेदमे अग्निके तीन मन्त्र हैं (१०।१२४।२,३,४)। अन्य वंशवाले भी ऋग्वेदके ५ अग्नि ऋषि हैं। उन्हे छोड़िये। एकका ही विचार करें। अग्निने इन तीन

मन्त्रोसे क्या निष्कर्ष निकाला यह ज्ञातव्य है। क्योकि उसने सम्पूर्ण जीवनमे ये तीन ही मन्त्र सीखे, पढ़े और प्रचरित किये। यदि वह मन्द बुद्धि नहीं था तो उसके कार्य और पुरुषार्थका विवरण मिलना चाहिये। यदि विवरण नहीं है तो उन तीनो मन्त्रोका अग्नि ही कर्ता है, यह मानना ही पड़ेगा। यह कहना कि अग्निके तत्तन्मन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ रहे होगे परन्तु जिस कालने **भुक्तानि विष्णुवृन्दानि गिलिता रुद्रकोटयः'** करोड़ो विष्णु और करोड़ो रुद्रको खा लिया उसी कालमे अग्निके श्रमको भी अदृश्य बना दिया तो यह तो प्राण बचानेकी बात हुई। एक अग्निपर ही यह प्रश्न नहीं है। सभी ऋषियोपर यह प्रश्न है। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रका ही नहीं प्रथमके १० सूक्तोका ऋषि मधुच्छन्दा है। उसने इन सूक्तोका यावज्जीवन अनुशीलन करके क्या फल प्राप्त किया और उससे प्रजाको क्या लाभ हुआ यह बताना चाहिये। अन्यथा यह मान ही लेना चाहिये कि मधुच्छन्दा इन सभी मन्त्रोका पण्डित प्रणेता था।

मै वैदिक इतिहासके सम्बन्धमे विचार कर रहा था। प्रसङ्गवशात् अपौरुषेयत्वका भी विचार करना आवश्यक था अतः उसका स्पर्श कर लिया गया। अब मूल विषयपर आ जाना चाहिये। मै तो मानता हूँ कि वेदोमे अवश्य ही इतिहास हैं। तथापि ऐतिहासिक नामोके अर्थ मैं भी बदलता रहता हू और हृदयमे यह वृत्ति बनी रहती है कि मैं वेदोके साथ खेल खेल रहा हूँ। वैदिक गङ्गा, यमुना शब्द यदि हिमालयपुत्री गङ्गा यमुनाका इतिहास नहीं बताते हो और गच्छतीति गङ्गा इस व्युत्पत्तिजन्य अर्थके अनुसार नदीसामान्यका अर्थ बताते हो तो **रमत इति रामः, कृषतीति-कृष्णः,** ये सब नाम भी सामान्यरीतिसे पशु, पक्षी, देव, मनुष्या-

दिके ही बोधक होगे और दाशरथि राम तथा वासुदेव कृष्णके बोधक न होगे। यदि कहे कि केवल वैदिक शब्दोके लिये ही योग-रूढिका स्वीकार वेदोमे है, अन्यत्र नहीं, तो यह उचित नहीं है। **य एव वैदिकाः शब्दास्त एव लौकिकाः** इसे भूलना नहीं चाहिये।

वेदोमे सहस्रो क्रियाएँ लिट् और लङ्की (भूतकालिक) आयी हुई है। वे इसी बातका साक्ष्य देती है कि वेदोमे इतिहास अवश्य है। कितने ही लोग यह मानते है कि भूतकालकी क्रियाएँ वेदोकी अनादिता सिद्ध करती है। मै कहता हूँ कि वे क्रियाएँ अनादिता नहीं केवल प्राचीनता सिद्ध करती है। यदि परसन्तोषार्थ उन क्रियाओको अनादित्वसाधक ही मान ले तो भी इतिहासका अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि ये वेदोक्त इतिहास आजके नहीं अस्मरणीय अतीत-कालके है। कुछ कह लिया जाय, इतिहासका अस्वीकार नहीं ही हुआ।

वेद ईश्वरीय हैं, इस सिद्धान्तको माननेवालोको वेदोमे इतिहास माननेमे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। यदि वेद सर्वविधाओका कोष है तो इतिहासविद्याका उसमे होना क्यो अनावश्यक माना जाता है, अवगत नहीं होता। **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**, यह इतिहास नहीं है तो है क्या? अकल्पयत् यह भूतकालकी क्रिया है। यदि ईश्वर अपनी भाषामे बोलता तो ऐसा बोलता कि—**सूर्याचन्द्रमसोसावहं यथापूर्वमकल्पयम्**—सूर्य और चन्द्रको मैने पहलेके समान ही बनाया है। तब भी तो इतिहास ही होता। **'न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्ति०'** (न्यायद० २।२।१) इस सूत्रपर वात्स्यायनमुनिने इतिहासका लक्षण किया

है कि—**'इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम्।'** इस सूत्रपर वृत्तिकार विश्वनाथने भी ऐसा ही लिखा है—**"अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं परम्परागतं वाक्यम्। यथा वटे वटे यक्ष इत्यादि। तद्धि इति होचुरित्यनेन प्रकरणेनोच्यते।"** यदि वेदोमे सर्वविद्या है यदि वेदोका उपदेष्टा ईश्वर सर्वविद्य है तो वेदोमे इतिहासका होना परमावश्यक है।

× × ×

प्रश्न—जैसे आम्रवृक्षकी शाखाएँ-पत्र- पुष्प आदि अङ्ग होनेसे आम्रसे व्यतिरिक्त नहीं है ऐसे ही निरुक्त, व्याकरणादि वेदोके अङ्ग होनेसे वेदशब्दसे अभिहित किये जा सकते हैं या नहीं ?

उत्तर—अङ्ग दो प्रकारके होते हैं कृत्रिम और अकृत्रिम। कृत्रिम अङ्ग कार्यनिर्वाहके लिये माने जाते हैं और वह प्रायः पारिभाषिक होते हैं। अकृत्रिम अङ्ग सहज होते हैं। अङ्गका अर्थ प्रयोजक और उपकारक भी होता है। निरुक्तादि षडङ्ग वेदोपकारक हैं एतावता वे अङ्गरूपसे मान लिये गये हैं। वास्तविक अङ्ग नहीं हैं। अकृत्रिम अङ्ग सहजात होते हैं। मनुष्यके हस्त पादादि अवयव शरीरसहजात हैं। वृक्षके शाखा-पत्रादि सहजात हैं। सहजात अङ्गोकी सत्ता अङ्गीकी सत्ताके ही अधीन है। यदि देह नहीं है तो हस्तपादादि भी नहीं हैं। यदि वृक्ष नहीं है तो शाखा-पत्रादि भी नहीं हैं। कृत्रिम अङ्गोके लिये यह नियम नहीं है। संस्कृत साहित्यमे रथाङ्ग एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। रथाङ्ग चक्रका नाम है। रथ न हो तो भी रथाङ्ग रहता है। यही कृत्रिम अङ्गोका महत्त्व है। देहव्यवहारमे, रथव्यवहारमे, वृक्षव्यवहारमे अङ्ग और अङ्गी दोनो ही एक शब्दाभिधेय हैं। वेदके सम्बन्धमे यह बात नहीं है। निरुक्तादिविद्याएँ वेदोके प्राकट्यके बहुत पीछेसे आयी

है। वे वेदसहजात नहीं है। इसपर यह आपत्तिकी जा सकती है कि वेद व्याकरणनियमबद्ध हैं, छन्दोनियमबद्ध हैं। वेदके सभी शब्द निर्वचनीय हैं। वेदोमे काल है, नक्षत्र, हैं, ऋतु हैं। तब व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्यौतिष ये सहजात क्यो न माने जायं ? मेरा तात्पर्य उन ग्रन्थोसे है जो व्याकरण और छन्द आदिके नियम बनाते और बताते हैं। भाषानुसारी व्याकरण होता है। वेद जब लिखे गये थे तब व्याकरणशास्त्रका आविष्कार नहीं हुआ था। वह ऋषियोकी अपनी स्वाभाविक भाषामे लिखे गये थे। पश्चात् व्याकरणकी रचना हुई। वेदमे छन्दोमे बनाये गये परन्तु उस समय तक छन्दःशास्त्रका निर्माण नहीं हुआ था आविष्कार भी नहीं हुआ था। रोना और गाना सबको स्वभावतः आता ही है। ऋषियोने अपने स्वाभाविक रागमे वेदोको लिखा। पश्चात् छन्दः-शास्त्रका निर्माण हुआ। वेद छन्दःशास्त्रके जनक अवश्य हैं। उन्हीं-को आदर्श बनाकर छन्दोके स्वरूप और नाम बनाये गये। '**अग्न आ याहि**'यह वेदवाक्य व्याकरण नहीं है—व्याकरणका स्रोत है। इसको देखकर, अनेको ऐसे ही प्रयोगोको देखकर प्राति-शाख्योमे कुछ नियम बनाये गये। इन्हे ही देखकर पाणिनिमुनिने "**एचोयवायावः**" "**लोपः शाकल्यस्य**" इन सूत्रोको बनाया। ये ही व्याकरण कहे जाते हैं। 'व्याकरण ले आवो' कहनेसे कोई ऋग्वेद नहीं ले आता है। अष्टाध्यायी और महाभाष्यको ले आता है। ये सभी अङ्ग भिन्न-भिन्न विद्वानोने पीछेसे रचे हैं। अतः ये कृत्रिम अङ्ग हैं। सहजात नहीं। सहजात अङ्ग ही अङ्गीके नामसे गृहीत होते हैं। अतः वेदोके ये षडङ्ग वेदशब्दसे अभिलापके योग्य नहीं हैं। ये वेद नहीं हैं।

इन षडङ्गोके वेद न होनेमे अन्य भी कारण बताये जा सकते हैं। कुछ ये हैं—

१—वेद ईश्वरोपदिष्ट माने जाते है परन्पु निरुक्त व्याकरणादि ईश्वरोपदिष्ट नहीं है।

२—वेद अनादि और नित्य माने जाते है परन्तु निरुक्तव्याकरणादि न अनादि है और न नित्य है।

३—वेद अबाधित-अबाध्य माने गये है, निरुक्तादिका बोध स्पष्ट है। एक निरुक्त कुछ कहता है और दूसरा कुछ। एक व्याकरण कुछ कहता है दूसरा कुछ।

४—सर्वाङ्गोके अभावमे अङ्गी स्थिर नहीं रह सकता। वेद अपने इन अङ्गोके अभावमे स्थिर रहे है और भविष्यमे भी स्थिर रह सकेंगे।

५—वेद स्वतः प्रमाण है। निरुक्तादि स्वतः प्रमाण नहीं हैं। इनका परतः प्रामाण्य स्वीकृत है।

× × ×

प्रश्न—ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् ये वेद माने जा सकते हैं या नहीं ?

उत्तर—नहीं। जो लोग यह मानते हैं कि वेद ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वरोपदिष्ट हैं वे तो ब्राह्मणादिको वेद मान ही नहीं सकते। क्योकि इनके रचयिता मनुष्य है—ऋषि मुनि है। जो अनीश्वरवादी हैं और वेदको ईश्वरोपदिष्ट नहीं मानते वे भी इन ब्राह्मणादिको वेद नहीं मान सकते। वेद चार है। चार ही उनके नाम हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ये जिन ग्रन्थोके नाम हैं वे ही वेद हैं। वेद चार ही हैं, न न्यून न अधिक।

एक शङ्का की जा सकती है कि जैसे आज मुख्य व्याकरण पाणिनिका अष्टाध्यायी है। परतु उसका महाभाष्य, काशिका, शेखर, मनोरमा, कौमुदी, भूषण मञ्जूषा सभी व्याकरण कहे जाते

जाते हैं। ऐसे ही वेदके व्याख्यानरूप ब्राह्मण वेद क्यो नहीं माने जायँ।

उत्तर यह है कि ब्राह्मण वेदके न भाष्य हैं, न टीका-टिप्पणि हैं। उनमे वेदोके मन्त्रोका उपयोग हुआ है परन्तु स्वेच्छासे अमुक अमुक कर्मोंमे उनका यिनियोग करनेके लिये। वह **ब्रह्मणो व्याख्यानं ब्राह्मणम्** इसी दृष्टि से वेदके व्याख्यान कहे जाते हैं वस्तुतः वह व्याख्यानरूप हैं नहीं। तदधिकृत्य कृतः-वेदोको अधिकार बनाकर बनाये जानेवाले ग्रन्थ वस्तुतः ब्राह्मण कहे जाते है। इसी अर्थमे ब्राह्मणको ब्राह्मण कहते हैं। अतः ब्राह्मण ब्राह्मणं हैं, वेद नहीं।

प्रश्न—**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** इस वचनसे ही ब्राह्मणोको भी वेद मानना ही चाहिये।

उत्तर—नहीं। यदि ब्राह्मण भी वेद ही होते तो इस वचनकी आवश्यकता ही क्या थी? ब्राह्मण वेद नहीं माने जाते थे अतः उनको भी वेदमे परिगणित करनेका यह वचन एक साधन है। **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** यह आपस्तम्बसूत्रका एक सूत्र है। यज्ञोमे वेद मन्त्र और ब्राह्मणोका भी उपयोग होता है। मन्त्रोकी—वेदोकी अपेक्षा ब्राह्मण ही कर्मकाण्डमे अधिक उपयोगी हैं। सभी विधि वाक्य ब्राह्मणोके ही हैं वेदोके नही। यज्ञके लिये किसीको अवैदिकत्वकी आशङ्का न हो अतः आपस्तम्बको यह सूत्र पढ़ना पड़ा।

पण्डित युधिष्ठिरजी मीमांसकने इस विषयपर सविस्तर विचार किया है। वह लिखते हैं कि यह सूत्र केवल कृष्णयजुःशाखाके आपस्तम्ब, सत्याषाढ, बौधयनादि सूत्रोमे ही उपलब्ध होता है, ऋग्वेद और शुक्लयजुर्वेदके सूत्रोमे कहीं भी यह वचन नहीं है।

इससे उन्होने यह निष्कर्ष निकाला है कि कृष्णयजुर्वेदमे मन्त्र और ब्राह्मण दोनो ही मिश्र हैं अतः ब्राह्मणभागको भी वेदत्व प्रदान करके अपने कर्मको वैदिकत्व प्रतिष्ठापित करनेकी यह एक युक्ति है।

मेरा तात्पर्य यह है कि आपस्तम्बका सूत्र सार्वभौम नहीं है। वह कृष्णयजुर्वेदके मन्त्र और ब्राह्मणभागको ही वेदत्व सिद्ध करनेके लिये प्रस्थित हुआ है। अतः वह सीमाबद्ध है। अन्यत्र इसकी गति सर्वथा ही बाधित है। अतः ब्राह्मणमात्र वेद नहीं है।

× × ×

प्रश्न—यदि ईश्वरको स्वीकार न किया जाय तो वेदोका क्या महत्त्व रह जाता है? तथा उनका उपयोग क्या होगा?

उत्तर—यह बहुत नैसर्गिक प्रश्न है। इसका महत्त्व भी है। मै इसपर विचार करता हूँ। यह बात तो अत्यन्त सत्य है कि अपौरुषेय मानकर ही हमारे पूर्वजोने वेदोको स्वतःप्रमाण माना है। यदि वह ईश्वरोपदिष्ट नहीं हैं तो औपरुषेय भी नहीं हैं। तब उनके महत्त्वका प्रश्न उदित हो जाता है। सत्य बात तो यह है कि ब्रह्म, ईश्वर, जीव, मुक्ति, स्वर्ग, पुनर्जन्म आदि सिद्धान्तोकी स्थिरताके लिये, उसकी सत्यताके लिये, उनपर विश्वासके लिये मनुष्येतर वाणीकी आवश्यकता विद्वानोको पड़ी और वेदको ईश्वरीय तथा अपौरुषेय मानकर उपर्युक्त जीव, ईश्वर, मुक्ति, पुनर्जन्म आदि-को आर्योके रक्तबिन्दुके साथ ओतप्रोत कर दिया गया। कोई इन सिद्धान्तोंपर ननु नच न कर सके अत एव वेद ईश्वरीय मान लिये गये और अपौरुषेय भी। ब्रह्म है, ईश्वर है, जीव है, मुक्ति है, स्वर्ग है, इनकी सिद्धिके लिये अन्य उपाय ही क्या हैं? वेदों-को ईश्वरीय और अपौरुषेय मानना अपरिहार्य हो गया। इस फल-सिद्धिके अतिरिक्त वेदको ईश्वरीय माननेमे और कुछ भी तात्पर्य

नहीं है। कोई यज्ञके निमित्त अपने अश्व, गो, धन आदिका नाश क्यो करे यदि उसे विश्वस्तरूपसे न कहा जाय कि यज्ञसे स्वर्ग मिलता है? स्वर्गका स्वरूप भी बता दिया गया कि—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

तथा अपौरुषेयका अर्थ समझा दिया गया कि 'सजातीयोच्चारण-निरपेक्षोच्चारणविषयत्वम् अपौरुषेयत्वम्' वेद हमारे जैसे लोगोसे उच्चरित होकर अस्तित्वमे नहीं आये हैं अतः वे सत्यवाक् हैं। मैंने गिनाये, उनके अतिरिक्त वेदोको ईश्वरीय माननेका कोई फल नहीं है। वह बहुत प्राचीन समय था जब ऐसा किया गया। सम्भव है कि तबके आदिम मानव ऋषियोके वचनोपर विश्वास भी न रखते हो अत एव उन्हे अगत्या अपौरुषेयका साचा और ढाँचा तैयार करना पड़ा हो। ग्रन्थ अपौरुषेय हो या पौरुषेय हो, वेद यदि प्रजाके हितके लिये न हो तो उनका कोई मूल्य नहीं होना चाहिये। आप देखे, श्रौत याग चले गये और वेदसे जगत् अपरिचित हो गया। मालूम होता है कि यज्ञ ही प्रधान कारण था वेदोको ईश्वरीय बनानेमे। यज्ञातिरिक्त ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म, स्वर्ग, मोक्षकी बाते तो हम स्मृतियो और पुराणोमे भी पा लेते हैं। आज तो हमारे सर्व व्यवहार स्मार्त और पौराणिक ही हैं। वेदाश्रित एक भी व्यवहार आज नहीं चल रहा है। सन्ध्यातर्पण आदि हम करते हैं परन्तु वह वेदाश्रित नहीं हैं। मनुने डरा दिया कि "स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः" इसलिये हम सन्ध्या करते रहे हैं या करते रहते हैं। वेदोने कहीं भी सन्ध्या करनेको नहीं लिखा है। **अहरहः सन्ध्यामुपासीत** यह तो ब्राह्मणवचन है। इसका अर्थ वह है ही नहीं, जिसे लोग समझे हुए हैं। हमारे

पास आज सन्ध्याके चार पुस्तक हैं—चार विधान हैं। उनका सम्बन्ध वेदोंसे जोड़नेका प्रयास किया गया है। एक सन्ध्याविधि स्वामी दयानन्दजीका है। इसे पाँचवीं सन्ध्या कह सकते हैं। लोगोंने तात्पर्य समझा नहीं, ग्रन्थसज्जामें लग गये। उस ब्राह्मण-वचनमें **सन्ध्याम्** यह द्वितीया विभक्ति **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** के अनुसार कर्मप्रयुक्त नहीं है। सन्ध्या इप्सिततम नहीं है। सन्ध्याकी उपासना वेदविहित नहीं है। सन्ध्या एक ऐसे कालका नाम है जिसमें स्थिरचित्त होकर उपासना की जाती है। दिन और रात्रि तथा रात्रि और दिनके संयोगकालको सन्ध्याकाल कहते हैं। **सन्ध्याम्** में द्वितीया है—कर्मविभक्ति है वह अत्यन्तसंयोगे द्वितीया है। **यावत्सन्ध्याकालो वर्तेत तावदुपासीत** = जब तक सन्ध्याकाल है तब तक उपासना करो, यह उसका अर्थ है। **ॐ वाक् वाक् ॐ प्राणः प्राणः** यह सब न उपासना है और न उपासनाका अङ्ग है। **'शन्नो देवीरभीष्टये०'** इस मन्त्रसे उपासनाका कोई सम्बन्ध नहीं है। **ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्** —में भी उपासनाका कोई तत्त्व नहीं है। **प्राची दिगाग्नि** इत्यादि मन्त्र तो उपासनासे सहस्रों कोस दूर हमें ले जाते हैं। उन मन्त्रोंमें तो द्वेषभाव भरा पड़ा हुआ है। **तच्चक्षुर्देवहितम्**—यह मन्त्र उपासनाके लिये नहीं है, प्रार्थनाके लिये है। प्रार्थना और उपासनाको एक कर देनेसे जो क्षति हुई है उसका फलभोग हम आज कर रहे हैं। एकाग्रता नहीं रही, चित्त समाहित नहीं रहा, परमेश्वर यह शब्द रह गया वह भी निरर्थक बनकर। उप+आसना=परमात्माके समीप बैठनेकी भावना अस्त हो गयी। साद्गुण्यप्राप्तिकी भावना चली गयी और एक महाराजके विलासी

भवनके समान महाभवन प्राप्त करनेकी इच्छा जग गयी परन्तु असफल। ईश्वरके सच्चिदानन्दस्वरूपको प्राप्त करनेका एक साधन उपासना है। सन्ध्या पुस्तकमेंसे मन्त्र-श्लोक-वाक्य पढ़ लेने और बोल लेनेका नाम न सन्ध्या है और न उपासना। ब्राह्ममुहूर्तसे सूर्योदय तक और सूर्यास्तसे तारोदयतक सन्ध्याकाल माना गया है। उस पूरे काल तक सच्चिदानन्दका चिन्तन और तत्सारूप्य प्राप्त करनेको ही उपासना कहते हैं। **सन्ध्यामहं करिष्ये** यह तो औपचारिक प्रयोग ही है।

अस्तु, मुझे तो ईश्वरके अस्तित्वके अस्वीकारमे भी वेदका महत्त्व बताना है। किसी उपाधिके द्वारा, किसी सहायकके द्वारा किसी बाह्य साधनके द्वारा किसीका जो महत्त्व दीखता है वह अकिञ्चित्कर है। जब कोई वस्तु या व्यक्ति अपने गुण, अपने उत्कर्ष, अपने सदुपयोगके द्वारा महत्त्वको प्राप्त होती है तो वह उसका वास्तविक महत्त्व है। हमारे यहाँ एक रीति-नीति है कि यदि किसी व्यक्तिमें, किसी वस्तुमे कोई उत्कृष्ट गुण प्रतीत हो तो उसे—उस वस्तु या व्यक्तिको देव बना डालना। **यद्यद्विभूतिमत्सत्वम्** ० को गाकर गीताचार्यकृष्णने भी इसपर अपनी मुहर मार दी। वेदो का महत्त्व ईश्वरीय होनेसे नहीं बढ़ा है प्रत्युत वैदिक समयमें—अतीतकालमे वेदोंके द्वारा जो अनुपम प्रेरणा मानवसमाजको मिली थी, जो सत्यनिष्ठा प्राप्त हुई थी, जो मानसिक बल प्राप्त हुआ था, सद्गुण और सद्विद्याकी प्राप्तिकी जो प्रबल भावना जग उठी थी, राष्ट्ररक्षाकी भावनाका जो जन्म हुआ था वे सब तत्त्व वेदके महत्त्वके पूरक और वर्धक थे। इन सब तत्त्वोंके उपदेशक अनेक मन्त्र चारों वेदोंमे बिखरे हुए पड़े हैं। ये तत्त्व जब तक रहेंगे तब तक उनकी महत्ताका सूर्य कभी भी अस्तंगत नहीं हो सकेगा।

मै आगे चलकर एक प्रश्नके उत्तरमे एक प्रकरण लिखूँगा। उसमे वेदके महत्त्वका अधिक प्रकाश देखा जा सकेगा।

× × ×

प्रश्न—क्या वेद केवल कर्मकाण्डमे विनियुक्त पोथी ही है या आर्यविद्याओका श्रेष्ठतम भण्डार ?

उत्तर—मेरा दृढ विचार है कि वेद कर्मकाण्डकी पोथी नहीं प्रत्युत आर्यविद्याओके भण्डार ही है। कर्ममे तो उनका अन्धाधुन्ध उपयोग कर लिया गया है। **इषे त्वोर्जे त्वा०** इस शुक्लयजुर्वेदके मन्त्रमे ऐसे एक भी वस्तुका वर्णन नहीं है जिसके लिये इसका कर्ममे उपयोग हुआ। यहा शाखाका नाम नहीं है तथापि शाखाच्छेदनमे इसका विनियोग हुआ है। ऐसे लगभग सभी मन्त्र हैं जो कर्ममे विनियुक्त है परन्तु उनका अर्थ उससे विपरीत है। यह सत्य है कि संहिताओकी रचना कर्मके लिये नहीं प्रत्युत सदाचार और सद्विचारके लिये हुई थी। ब्राह्मणग्रन्थ अवश्य ही कर्म लेकर आये थे। यद्यपि उनमे भी सैकड़ो वाक्य इतने सुन्दर हैं कि हृदयमन्दिरका द्वार स्वतः ही उनके लिये विवृत हो जाता है।

सामवेदपर बहुतसे भाष्य हो चुके है तो भी मुझे उसपर भाष्य करनेकी इच्छा हो गयी। क्योकि मै उसमे अध्यात्मतत्त्व देख रहा था। सायणने उसमे यज्ञ और कर्मोंको देखा। किसीने विज्ञान भी देखा। मुझे भी प्रथम दृष्टिमे यही दीख पड़े। मुझे सन्तोष नहीं हुआ। किया हुआ श्रम व्यर्थ गया। प्रथम भाष्यको मैंने नष्ट कर दिया। सामसंस्कारभाष्य लिखकर मै कृतकृत्य बना। मुझे लगता है कि मैने वेदोकी सेवा की है। मुझे अनुभव होता है कि गुरुकृपासे मैने वेदोके सात्त्विक तत्त्वोका साक्षात्कार किया है।

आर्यविद्याशब्दसे प्रश्नकर्ता बन्धुको क्या अभीष्ट है, मै नहीं जान सका। परन्तु मेरी दृष्टिमे ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म, मोक्ष, सदाचार, सद्विद्या, सद्व्यवहार ही आर्यविद्या है। आर्योंका झुकाव इस ओर विशेषरूपसे रहा है। मै नहीं कह सकता कि इस आर्य-विद्याके उपदेशमे वेद कहा तक सफल हो सके परन्तु यह निर्विवाद है कि जगत्का वायुमण्डल इन सिद्धान्तोसे गूँज उठा था और जितने भी धर्म पीछेसे आये, इसी आर्यविद्याके अधमर्ण थे। वेद उत्तमर्ण बने रहे।

भौतिक विज्ञान भौतिक सम्पत्तिको मै आर्यवस्तु नहीं मानता। ये अनार्योंके पास भी प्रचुरप्रमाणमे उस समय भी थे और आज भी।

अधिक विचार अग्रिम किसी प्रकरणमे ही करूँगा।

× × ×

प्रश्न—श्रुतिशब्दका प्रयोग वेदोके लिये हो सकता है या नहीं? ब्राह्मणमे आरण्यकों और उपनिषदोके वचनोके लिये तो श्रुतिशब्द सर्वत्र सामान्य रीतिसे व्यवहृत है।

उत्तर—वेदो, ब्राह्मणो तथा आरण्यकोंके समय तक आर्योंके पास कोई अक्षरलिपि नहीं आ सकी थी। अतः ये सभी ग्रन्थ रच-यिताओंको कण्ठस्थ रखने पड़ते थे। साहित्यका बहुत बड़ा भण्डार उस समय था नहीं, जीविकाका प्रश्न बहुत ही गौण था। लोगोको अवकाश पुष्कल था। अतः कण्ठस्थ रखना बहुत कठिन कार्य नहीं था। रचयिताओने वेदादिको कण्ठस्थ कर रखा था और अपने अन्तेवासियोको उनका अध्ययन वे कराते रहते थे। गुरुके उच्चारण-के समान ही उच्चारण करनेका नाम अध्यन है। आचार्यने कहा बोलो—

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।

होतारं रत्नधातमम् ॥

शिष्यने भी ऐसा ही उच्चारण कर लिया। यह संहितापाठ है।

पुनः आचार्यने कहा बोलो—

अग्निमीडे ईडे पुरोहितं पुरोहितं यज्ञस्य यज्ञस्य देवम्
देवमृत्विजम् ऋत्विजमिति ऋत्विजम् ॥

इसका नाम क्रमपाठ है। क्रमसे दो दो पदके पाठको क्रमपाठ कहते हैं। शिष्यने भी ऐसा ही उच्चारण किया।

पुनः आचार्यने कहा बोलो—

(१) अग्निमीडे ईडे ईडे ईडेअग्निम् अग्निम् अग्निम् अग्निमीडे।

(२) ईडे पुरोहितम् पुरोहितम् पुरोहितम् पुरोहितमीडे ईडे ईडे ईडे पुरोहितम्।

(३) पुरोहितं यज्ञस्य यज्ञस्य यज्ञस्य यज्ञस्य पुरोहितं पुरोहितं पुरोहितं पुरोहितं यज्ञस्य।

(४) यज्ञस्य देवं देवं देवं देवं यज्ञस्य यज्ञस्य यज्ञस्य यज्ञस्य देवम्।

(५) देवम् ऋत्विजम् ऋत्विजम् ऋत्विजम् ऋत्विजं देवम् देवं देव देवमृत्विजम्।

शिष्यने भी ऐसा ही उच्चारण किया। यह पञ्चसन्धिके क्रम है। अनुक्रम, उत्क्रम, व्युत्क्रम, अभिक्रम, संक्रम इनको पञ्चसन्धि कहते हैं।

वेदोके पाठके लिये आठ क्रम हैं। इन आठोको विकृति कहते हैं। उनके नाम ये है—जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड,

रथ, घन। वेदोंके अक्षर-मात्रामे विपर्यास न होने पावे, इसके लिये महर्षियोने ये विकृति पाठ बनाये थे।

प्रकृतमे आइये। इस रीतिसे गुरुके किये हुए उच्चारणके अनुसार ही शिष्य भी उच्चारण करे, इसीका नाम अध्ययन है। आचार्यके शब्दो-मन्त्रोंको सुनकर ही शिष्य अध्ययन करते थे अतः वेद, ब्राह्मण और आरण्यक श्रुति कहे जाते हैं। उपनिषद् भी इन्हींके अभ्यन्तर समाविष्ट हैं। वेदोको श्रुति कहनेमे कोई क्षति नहीं है, इतना ही नहीं, प्रत्युत आदिम और मुख्य श्रुति तो वेद ही हैं।

× × ×

प्रश्न—कहा जाता है कि श्रीव्यासजी ने वेदोका विभाजन किया था। इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—मैं नहीं कह सकता हूँ कि व्यासजीने वेद-विभाजन किया या नहीं। मुझे तो इसमें पौराणिक धारणाके अतिरिक्त कुछ भी तथ्य नहीं प्रतीत होता है। व्यासजी द्वापरमे थे यह तो निर्विवाद है। शतपथ ब्राह्मण व्यासजीसे प्राचीन हैं, यह भी निर्विवाद है। शतपथमें अग्नेर्ऋग्वेदः। वायोर्यजुर्वेद.। इत्यादि लिखे ही हुए हैं। इससे इतना तो अवश्य ही स्पष्ट है कि वेदोके ये चार नाम व्यासप्रदत्त नहीं है। नाम वस्तुके पश्चात् ही आते हैं, इसमे किसीको आपत्ति नहीं है। तब विभक्त किये हुए चार शब्दराशि तो प्रथमसे ही उपस्थित थे। उनके नाम भी व्याससे पहले ही प्रख्यात हो चुके थे, तब व्यासजीने किसका **व्यसन** किया, अवगति नहीं होती है। यह हो सकता है कि आरम्भमे यह चारो शब्दराशि एक ही राशि रही हो और पश्चात् उनको मीमांसाकी रीतिके अनुसार चार भागोंमें विभक्त किया गया हो। परन्तु वह

विभक्ति व्याससे पूर्व ही हो चुकी थी। इसीलिये व्याससे पूर्वकी मनुस्मृतिमे लिखा गया कि—

आग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

मेरा अपना मत है कि व्यासने वेदोंका कोई विभाग किया हो, यह केवल भ्रम है। इसमे वास्तविकता संभवतः कुछ भी नहीं है।

× × ×

प्रश्न—यदि यह माना जाय कि वेदोंके मन्त्रोपर जिन ऋषियो-के नाम लिखे हुए है वही ऋषि उन मन्त्रोके बनानेवाले हैं तो सामवेदके लिये एक प्रश्न यह है कि सामवेदके प्रायः सभी मन्त्र ऋग्वेदीय ही हैं। ऋग्वेद का संग्राहक ऋषि अग्नि है। वही अग्नि सामवेदका भी संग्राहक माना ही जायगा। तब पृथक् उसके रच-यिताका नाम आदित्य क्यो रखा गया ?

उत्तर—अवश्य ही ७३ मन्त्रोको छोड़कर अवशिष्ट सभी मन्त्र सामवेदमे ऋग्वेदीय ही है। कुछ कुछ कहीं कहा पाठभेद भी है। परन्तु वह तो कालक्रमसे बोलते बोलाते हो गया होगा। अथवा ऋग्वेदकी किसी शाखामें ऐसे ही पाठ रहे हो। ७३ मन्त्र ही नये हैं। उनमेसे महानाम्नीसंज्ञक मन्त्रो का रचयिता तो प्रजापति है, ऐसा ताण्ड्यवब्राह्मणमे उल्लेख है। अवशिष्ट मन्त्रोके रचयिताका नाम भी उन मन्त्रोके साथ लिखा हुआ है। तब तो इतना ही मानना अनिवार्य है कि ऋग्वेदके मन्त्रोको पृथक् संग्रह करने वाला और उसे अमुक रागमे गानेकी प्रथा चलानेवाला आदित्य था। इतनी विशेषताके लिये ही सामवेदके साथ आदित्य ऋषि-का नाम लगा हुआ है।

इस कथनसे यह तो स्वयं सिद्ध हो रहा है कि सामवेदका

अस्तित्व ऋग्वेदके पश्चात् है। तब प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि यदि ऐसा ही है तो ऋग्वेदमे सामवेदका नाम कैसे आ सका ?

अङ्गिरसो न सामभिः ॥ ऋ० १०।७८।५॥

उभौ वाचौ वदति सामगा इव .... ।

उद्गातेव शकुने साम गायसि ... ॥ऋ० २।४३।१-२॥

यो जागार तमु सामानि यन्ति ॥ऋ० ५।४४।१४॥

इन ऋग्वेदीय मन्त्रोमे सामपद पड़ा हुआ है।

इस प्रश्नका भी उत्तर अतिसरल है परन्तु ईश्वरीयत्व और अनादित्वके विश्वासने इसे भी जटिल बना दिया है। उत्तर यह है कि ऋग्वेदके संग्रहकी प्रवृत्ति चलती ही रही होगी और उसी बीच कालमे आदित्यने सामवेदका स्वरूप खड़ा कर दिया होगा। उस समय ऋग्वेदमे सामवेद का आना आश्चर्यकर नहीं हो सकता। सामवेदके संग्रहके पश्चात् भी ऋग्वेदके संग्रहका कार्य चलता ही रहा होगा।

× × ×

प्रश्न—पुरुष सूक्त चारो वेदोमे पठित है। आपने उसपर स्वतन्त्र भाष्य भी किया है। पुरुषसूक्तका जो ऋषि है वही उसका रचयिता है। तब क्या कारण है कि किसी वेदमे पुरुषसूक्त के अल्प मन्त्र हैं और किसीमें अधिक ?

उत्तर—संग्रहकारकी इच्छापर निर्भर होता है कि वह कौन वस्तु कहासे कितना ले। आदित्यको जितने मन्त्र अच्छे लगे होगे अथवा उपयोगी प्रतीत हुए होगे उतने उसने ले लिये। ऋग्वेद और यजुर्वेदके पुरुषसूक्तपाठमे बहुत अन्तर नहीं है।

थोड़ेसे पाठभेद अवश्य हैं। संख्याक्रमभेद भी है। यह सब स्मृति-दोषसे हुआ होगा।

परन्तु सबसे बड़ा प्रश्न अथर्ववेदका है। वहा भी पुरुषसूक्त है। संख्या भी उतनी ही है परन्तु सर्वथा भिन्न है। ऋषि भी वही है। मै समझता हू कि यहा भी स्मृतिदोष ही कारण है। अङ्गिराको ऋग्वेदसूक्त स्मरणमे नहीं आया तो उसने जैसा समझा लिख लिया। यह भी हो सकता है कि नारायण ऋषि उस समयतक जीते रहे हो और उन्होने दूसरा ही पुरुषसूक्त बनाकर अङ्गिराको दे दिया हो। वेदोको ईश्वरीय होनेके पक्षमे इस प्रश्नका कोई भी उचित उत्तर नहीं है। ईश्वरने क्यो सामवेदमे थोड़े मन्त्रोका उपदेश किया ? और अथर्ववेदमे क्यो नया पुरुषसूक्त बना डाला ? इन प्रश्नोका कोई उत्तर नहीं है।

× × ×

प्रश्न—ऋग्वेद (१।२२।१६२) का एक मन्त्र है—

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति। यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥

इस मन्त्रपर सायनभाष्य इस प्रकार है—

अश्वस्य यदवयवभूतस्य क्रविष आममांसस्य यद्-यदङ्गं मक्षिकाशः अभक्षयत्। अंश भोजने। यद्वा कर्मणि षष्ठी। अश्वस्य यन्मांसं भक्षयति। वा अथवा स्वरौ पश्वञ्जनकाले यद्रिप्तं लिप्तमस्ति। स्वरुणा पशुमनक्तीति श्रुतेः। अथवा स्वधितौ छेदनकाले। अवदानकाले यद्रिप्तमस्ति। शमितुर्हस्तयोर्लिप्तमस्ति। विशसनकाले

यच्च नखेषु लिप्तम्। ता सर्वा तानि सर्वाणि हे अश्व ते तव सम्बन्धीनि देवेष्वस्तु। देवेषु संतोषार्थाय भवन्तु।"

इस भाष्यको पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि या तो हमे यह मान लेना चाहिये कि "वेद उन असभ्य जंगली मनुष्योकी रचना है जो घोड़ेका कच्चा मास खाते थे, या वेदोकी सभ्यता असभ्य जंगली सभ्यता है जो घोड़ेका कच्चा मास खानेका आदेश देती है और उससे स्वर्गकी प्राप्ति मानती है। इसपर आपका क्या मत है?

उत्तर—ऋग्वेदमे यही एक मन्त्र नहीं, इस सूक्तमे · · मन्त्र हैं जो सबके सब इसी प्रकारके हैं। इसपर मै दो बातें कहूंगा। एक तो यह कि—एक मन्त्र या एक सूक्त या अनेक सूक्त इसी कोटिके वेदमे पड़े हो तो इससे समस्त वेदको दूषित नहीं किया जा सकता। इतना ही कह सकते हैं कि उस सूक्तका प्रणेता असभ्य था या जंगली था। दूसरी बात यह है कि, सभ्यताका कोई अन्त नहीं है। तत्तत्कालकी रूढियां, रहन-सहन-दिनचर्या, आचार-विचार तत्तत्कालकी सभ्यता बन जाती हैं और मानी जाती हैं। उस समयकी ऐसी सभ्यता रही होगी और ऋषिके समयमे पड़ोसमें, वातावरणमे ऐसे ही लोग रहते होगे अतः यह व्यवहार न अनुचित माना गया होगा और न असभ्य। तबको छोड़कर, अबका विचार कीजिये। कलकत्तेमें कालीमाताका यदि आपने दर्शन किया होगा तो विदित ही होगा कि वहां प्रतिदिन सैकड़ो अज-अजा-वत्स बकरे और छोटे छोटे बकरेके बच्चोंको काटा जाता है। उसके टपकते रक्तसे कितनोंके ही मस्तकमें काटने-वाला आदमी तिलक देता है। कितने ही उस रक्तको प्रसाद मानकर पी जाते हैं। महिष-वध भी वहां होता ही है। यह सब भी तो जंगली ही प्रथा है। कच्चा मांस खाना ही नहीं, पका हुआ

खाना भी तो जंगली ही प्रथा है। अगर पक्वमांसभोजन जंगली प्रथा नहीं है तो आम-मासभोजन भी जंगली प्रथा नहीं है। उस समयकी यह प्रथा थी। वाल्मीकिरामायणमे भी कच्चा मास खानेका आभास मिलता है। भगवान् राम जब गुहसे वियुक्त होकर गङ्गा पार पहुँचे हैं तो वहाका वर्णन है:—

तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान्,
वराहमृश्यं पृषतं महारुरुम्।
आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ,
वासाय काले ययतुर्वनस्पतिम् ॥

वा० रा० अयो० ५२।१०२ ॥

इससे भी अधिक स्पष्ट वर्णन निम्नलिखित श्लोकमे है—

क्रोशमात्रं ततो गत्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
बहून् मेध्यान् मृगान् हत्वा चेरतुर्यमुना वने ॥

वा० रा० अयो० ५५।३२ ॥

ऐसे ही वहां दूसरे वाक्य भी हैं जो भ्रष्टाचारके द्योतक हैं। यथा—

ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम् ॥२।५६।२२ ॥

मृगं हत्वानय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण।
कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिर्धर्ममनुस्मर ॥

२।५६।२३-२४ ॥

ऐणेयं श्रपयस्वैतच्छालां यक्ष्यामहे वयम् ॥ २।५६।२५ ॥

ये सब वचन वाल्मीकिरामायणके हैं। इनके अर्थ इतने स्पष्ट हैं कि टीका करनेकी आवश्यकता नहीं है। तथापि रामाभिरामी

टीकाकारने इन श्लोकोके शब्दोको बहुत चूँथा है और रामको मासाहारसे, मासविधिसे बचानेका असफल प्रयत्न किया है। मेरी सम्मतिमे श्लोकोका अर्थ बदलनेकी अपेक्षा उन्हे छोड़ देनेमे अधिक मानवता है। अर्थ बदलनेमे तो केवल उपहास ही प्राप्त होता है। इतिहास और आदिकालीन संस्कृतिका विनाश भी होता है। ऐसा करना अवश्य ही राष्ट्रिय पाप है।

अस्तु, इन मन्त्रोका अर्थ बदल दिया जा सकता है। परन्तु मुझे प्रतीत होता है कि उपर्युक्त मन्त्र तथा उसी सूक्तमे पठित अन्य मन्त्र ऐसी साधन-सामग्रीसे सज्ज है कि वस्तुतः वह यज्ञके लिये ही और अश्ववधके लिये ही रचे गये हैं। मै अन्तमे प्रयास करूँगा कि उस सूक्तके सभी मन्त्रोपर सभ्यभाषामे भाष्य करूँ।

मैने वेदोको ईश्वरीय न मानकर मानवीय माननेमे तनिक भी भूल नहीं की है। मैंने अपने पूर्वजोके ग्रन्थ और उनकी युक्तिया पढ़ी हैं, उनका मनन किया है और उनके अन्तस्तलतक पहुँचनेका सफल प्रयास भी किया है। सब कुछ पढ़कर, समझकर भी, मै अपने इस मतपर स्थिर हू कि वेद ईश्वरीय ग्रन्थ नहीं हैं। ईश्वरीय ग्रन्थ और ईश्वरीयवाणीमे निम्नलिखित बातें होनी ही चाहियें :—

१—विषय और शब्द निर्भ्रान्त और स्पष्ट होने चाहियें।

२—अश्लील शब्द और अश्लील उदाहरण नहीं होने चाहिये।

३—एक ही विषयका निष्प्रयोजन सैकड़ो स्थलपर उल्लेख नहीं होना चाहिये।

४—अव्यापक वर्णविभाग आदि नहीं होना चाहिये।

५—वैर, विरोध, हिंसाकी बात नहीं होना चाहिये।

६—लौकिक व्यवहार नहीं होना चाहिये।

७—उच्चतम भूमिकाका अध्यात्मवाद होना चाहिये।

८—वदतोव्याघात नहीं होना चाहिये।

९—ग्रन्थके विभाग नहीं होने चाहिये।

१०—संक्षिप्त होना चाहिये।

अब मै इनके सम्बन्धमे विशेषरूपसे विवेचना करूँगा। उपर्युक्त संख्याक्रमसे ही प्रस्तुत विषयपर विचार किया जायगा।

१—उदाहरणके लिये ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र ही ले लिया जायः

'अग्निमीडे पुरोहितम्'—इस मन्त्रमे अग्नि, पुरोहित, ऋत्विज्, होता आदि शब्द बड़े ही भ्रामक हैं। अग्निशब्दसे यदि भौतिक अग्निका ही ग्रहण हो और इस मन्त्रमे केवल यज्ञका ही निरूपण हो तो अवश्य ही **प्रथमग्रासे मक्षिकापातः** हुआ। आध्यात्मिक, पारमार्थिक तत्त्वनिरूपणके बदले भौतिक और लौकिकतत्त्वके विवेचनमे ही वेद पड़ जाता है। इससे वेदका महत्त्व निहत हो जाता है। क्योकि—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्दि वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

जिस वस्तुका ज्ञान प्रत्यक्ष वा अनुमानसे न हो सके उसका ज्ञान वेदसे होता है। लेकिक-याज्ञिक अग्निका ज्ञान प्रत्यक्षसे ही हो सकता है। अनुमानसे भी हो सकता है। यज्ञ इतना आवश्यक नहीं है कि इसके लिये वेदको श्रम करना पडे। अग्निमे सुगन्धित, दुर्गन्धित किसी वस्तुके पड जानेसे इतना अनुभव सभीको होता है, पहलेके लोगोको भी हो सकता होगा कि अग्निमे पदार्थ डालनेसे अमुक परिणाम आता है। लोग अपने आप सुगन्धित वस्तु डालना सीख सकते थे। वेदोमे यज्ञका कोई विधान नहीं है, कोई क्रम नहीं है, कोई विधि नहीं है। तब वेदको व्यर्थका श्रम यज्ञके लिये क्यो करना पड़े? कोई उत्तर नहीं दे सकता है।

किं च यदि यज्ञ आध्यात्मिक वस्तु है, कर्तव्य कर्म है, स्वर्ग या मोक्षका साधन है तो पीछेके उपनिषद्‌कारोंने तत्त्ववेत्ताओंने यज्ञ-कर्मका खण्डन क्यों किया ? अब तो एक भी हिन्दु यज्ञको मोक्षका साधन नहीं मानता है। तब तो वेद निरर्थक ही सिद्ध हुए। अतः या तो वेदको ऊटपटाङ्ग जो मनमें आवे, उसे बोलने वाला मान लेना चाहिये, या तो **बुद्धिपूर्वा कृतिर्वेदे** (वै०) के सिद्धान्तपर अटल रहना चाहिये। यह मन्त्र यदि आध्यात्मिक तत्त्व कहता हो तो उसे अग्निके बदलेमें ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर आदि या ऐसा ही कोई नाम लेना चाहिये था और ऋत्विज्, पुरोहित, होता आदिके स्थानपर, उपासक, ध्याता, चिन्तक आदि शब्दोंकी योजना करनी थी।

यदि कहें कि—

"यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥
सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिसप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमा-
न्यासन्॥" (पुरुषसूक्त)

इन मन्त्रोंमें यज्ञका विवरण है, तो यहां मुझे दो बातें कहनी हैं। एक तो यह कि आज्य, इध्म, हविः, परिधि, समित्, पशु यही सब वेदेङ्गित यज्ञकी सामग्री है। सामग्रीका ही संकेत इन मन्त्रोंमें हुआ है। इनके तथा यज्ञके स्वरूपका विवरण नहीं हुआ है। तब तो जैसे गोधूम, तिल, यव, मसूर, माष, मुद्ग आदि अन्नोंके नामका संकेत हुआ है, स्वरूपका नहीं, उनके उपयोगका नहीं, तथापि

मानवने शनैः शनैः उत्तरकालमे इनके उपयोगकी विद्याको अपने आप ढूँढ़ निकाला; वैसे ही आज्य, इध्म आदि नामोसे धीरे धीरे इनका स्वरूप और इनके उपयोगके लिये यज्ञ तथा उसके विधिको लोगोने पीछेसे ढूँढ ही लिया है। इसमे वेदके वेदत्वकी बात कहाँ रही? अतः यह सब यज्ञ भी लौकिक ही कृत्य हैं, पारमार्थिक नहीं।

यदि कहे कि—

"ते ह नाकं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" (ऋ०)

इस वचनके अनुसार याज्ञिकोने नाककी प्राप्ति की थी। स्वर्गप्राप्ति पारलौकिक वस्तु है। वह न तो प्रत्यक्षावगत है और न अनुमानावगत। वह तो केवल वेदशब्दोसे ही अवगम्य है, अतः वेदने अनधिगत अर्थका अधिगम कराया अतः उसका वेदत्व निर्बाध है, तो यह कथन भी समीचीन नहीं है। क्योकि जिस नाक-स्वर्गकी प्राप्तिके लिये वेद लोगोको प्रयासशील बनाना चाहता है या जिस नाकका बोधन करके वेद वेदत्व-स्वकृतार्थत्व प्राप्त करना चाहता है उस नाकका लाखो वर्षोंके पश्चात् भी, आज भी पूर्णज्ञान, या ज्ञान किसीको नहीं हो सका है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि नाकका ज्ञान अन्य साधनोसे नहीं हो सका और वेद उसका निरूपण करते हैं यही वेदका वेदत्व है, तो भी ठीक नहीं है। अदृष्ट और सदा ही अदृश्य वस्तुके लिये विकसितकालके विद्वान् श्रद्धालु नहीं रह सकते और इसी लिये यज्ञ चले गये और तत्प्राप्य स्वर्ग भी समाप्त हो गया।

किंच वह नाक स्वर्गसे अतिरिक्त वस्तु तो है ही नहीं। स्वर्ग तो अत्यन्त निकृष्ट लोक हो सकता है। वह लड़ाई, झगड़ेका

मुख्य केन्द्र है। उसका उत्थान और पतन है। वहाके निवासी मानवोकी अपेक्षा अत्यन्त दुर्बलाचार हैं। तब ऐसे महत्त्वहीन वस्तूद्बोधनसे वेदका कोई गौरव, महत्त्व सिद्ध नहीं होता। यदि **नाक** कोई अन्य लोक हैं तो उसके स्वरूपका स्पष्ट वर्णन वेदमे कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

दूसरी बात यह कहनी है कि यदि **नाक** का अर्थ कोई नित्य-लोक गृहीत हुआ हो तो उसके लिये यज्ञरूप साधन अत्यल्प है। यज्ञ दुराचारसाध्य भी है और सदाचारसाध्य भी। दुराचार और सदाचारमे तत्पुरुष और बहुव्रीहि दोनो ही समास हैं। यज्ञ धनसाध्य साधन है। धन दुराचार और सदाचार उभयपरिगृहीत होता है। अतः नित्यलोक प्राप्तिका साधन निकृष्टतम बन जाता है। अतः स्पष्ट ही है कि वह वेदके विषय अस्पष्ट हैं और शब्द भी अस्पष्ट। ऐसे अन्य भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

एक तीसरी बात भी। ऊपर जितने मन्त्र पुरुषसूक्तके उद्धृत किये गये हैं उनमे सभी क्रियाएँ भूतकालकी हैं। अतन्वत, आसीत्, आसन्, अबध्नन् ये सभी क्रियाएँ भूतकालिक है। इन मन्त्रोसे पूर्व लोगोमे यज्ञका प्रचार हो चुका था और वह समाप्तिके द्वारपर भी खड़ा था। इसी लिये तो कहा कि **तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्**। इससे यह भी स्पष्ट है कि ये मन्त्र बहुत पीछेसे वेदोमे जोडे गये हैं और यही कारण है कि पुरुष-सूक्तमे कहीं मन्त्र थोड़े हैं और कहीं अधिक। अतः स्पष्ट है कि वेद नूतन विधान नहीं कर रहे हैं किन्तु भूतानुवाद कर रहे हैं।

यदि कोई कहे कि वेदोंमें क्रिया प्रयोग अनियमसे होते रहे हैं तो यह मान लेना चाहिये कि ईश्वरके घरमे, उसके ज्ञानमे शब्दभण्डार बहुत थोड़े थे, अव्यवस्था अधिक थी। ईश्वरको

अव्यवस्थाकी चिन्ता नहीं थी। तब ऐसे अव्यवस्थित और उदासीन ईश्वरकी जगत्मे कितनी आवश्यकता है; इसे तो आजके शिक्षित लोग समझ ही रहे हैं, भविष्यके विद्वान् और भी अधिक स्पष्टतासे समझ सकेंगे।

(२) ईश्वर पवित्र है, ऋषि पवित्र हैं, तब उनकी रचनाओ-मे अश्लीलता नहीं ही आनी चाहिये। माता-पिता यदि अश्लील शब्दोच्चारण करते हैं तो वह सन्तानके लिये एक देन बन जाती है। सन्तान उन्हीं शब्दो और भाषाका अनुकारी बन जाता है। वेदोकी अश्लीलताके लिये अनेक स्थल बताये जा सकते हैं। यथा—

"उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।"
मर्यो न योषामभि निष्कृतं यन्त्संगच्छते कलश उस्त्रियाभिः॥
ऋ० ६।६३।२॥

अश्वो वोढा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन् मण्डूक इच्छति॥
ऋ० ६।११२।४॥

अत्रिर्यद् वामरोहन्नृबीसमजोहवीन्नाधमानेव योषा।
श्येनस्य चिज्जवसा नूतनेनागच्छतमश्विना शंतमेन॥
ऋ० ५।७८।४॥

वि जिहीष्व वनस्पते योनिः··········॥५।७८।५॥

जघने चोद एषां वि सक्थानि नरो यमुः।
पुत्रकृथे न जनयः॥ ऋ० ५।६१।३॥

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥
ऋ० ४।५।५॥

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे ।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता ॥
ऋ० १।१२६।६ ॥

इन मन्त्रोका अर्थ लिखना मुझे उचित नहीं प्रतीत होता है ।

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या ३ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ॥
ऋ० १०।८।३ ॥

इस मन्त्रका अर्थ करके संसारमे वेदोकी असभ्यताकी दुन्दुभि नहीं बजायी जा सकती ।

शुक्लयजुर्वेदके २३ अध्यायके १९वें मन्त्रसे तो आरब्ध अश्लीलता अपनी चरम सीमापर पहुँच जाती है। यद्यपि महान् वेदप्रेमी स्वामी दयानन्दसरस्वतीने उसके परिहारके लिये महाप्रयत्न किया है। तथापि वह वैसा ही रहा है । स्वा० दयानन्दजीने सब दोष बेचारे महीधरके ऊपर रख दिया है । वस्तुतः महीधरका उसमे दोष ही नहीं है । उससे पूर्व कात्यायनने अपने सूत्रोमे उन्हीं सबोको कहनेकी प्रेरणा की है जिन्हे महीधर और उव्वटने कहा है । देखिये कात्यायन श्रौतसूत्रके वचनः—

अधीवासेन प्रच्छादयति स्वर्गे लोक इति ॥
का० २०।१५३ ॥

अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति ॥ का०२०।१५४॥
उत्सक्थ्या इत्यश्वं यजमानोभिमन्त्रयते ॥ का०२०।१५५॥
अध्वर्युब्रह्मोद्गातृक्षत्तारः कुमारीपत्नीभिः संवदन्ते ।

यकासकाविति दशर्चस्य द्वाभ्यां द्वाभ्यां हये हये सावित्र्या-मन्त्र्यामन्त्र्य ॥ का० २०।१५६ ॥

ये सब कात्यायनके सूत्र हैं। इन्हींको मूलाधार बनाकर उव्वट और महीधरने अपनी भित्तिका चयन किया है।

श्रीस्वामी दयानन्दजीने शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थोंके आश्रयसे इन सब अश्लीलताओंकी बड़ा श्रद्धा और तत्परतासे तिरस्करण किया है। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ बहुत श्रद्धय हैं नहीं। इसीलिये यास्काचार्यने लिखा है—**बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति, पृथ्वी वैश्वानर:, संवत्सरो वैश्वानरः, ब्राह्मणो वैश्वानर इति । (निरु० ७।२४)** । ब्राह्मण चाहे जिसको चाहे जो बना देते है। अस्तु।

(३) वेदोंमे एक ही बात विना किसी नवीनताके अनेक बार जहाँ तहाँ कही गयी है। यह किसी भी ग्रन्थके लिये शोभास्पद और गौरवास्पद नहीं है। पुनरुक्तिका भण्डार किसी भी ग्रन्थके उत्कर्षको कम कर देता है। ऋग्वेदके (९।१५।३) से लेकर (९।१५।८) तक तथा (९।३८।१) से लेकर (९।३८।६) तक तथा (९।२८।१) से लेकर (९।२८।४) तक पुनरुक्ति ही हुई हैं। ये ही सब मन्त्र सामवेदमे भी आये हैं। ऐसी पुनरुक्तिया तो वेदोमे सर्वत्र भरी पड़ी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पुनरुक्तिका उपदेश करनेके लिये ही वेदोकी सृष्टि हुई है। पुनरुक्तियोको हटा दें तो वेद उत्तम छोटा सा ग्रन्थ बन जाता है।

(४) वेदोंमे वर्गविभागको अपेक्षासे अधिक स्थान मिला हुआ है। देवविभाग, मनुष्यविभाग, ब्राह्मणविभाग, क्षत्रिय-विभागादि, नीच-ऊँच विभाग इत्यादि अनेक विभागोसे वेद भरे पड़े हैं। इससे मनुष्यके मस्तिष्कका भी विभाग हो गया है।

वेद स्वयं चार भागोंमे विभक्त हैं। इस विभक्तिकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है। इस विभागने ब्राह्मणजातिको भी विभक्त कर दिया और अन्तरायका पहाड़ सबके बीचमे खड़ा कर दिया।

(४) वेदोंमें वैर-विरोधको भी अधिकमात्रामे स्थान मिला हुआ। पीछेके एक प्रकरणमे मै उदाहरणके लिये कुछ मन्त्रोको उद्धृत कर आया हू।

(६) वेदोंमे लौकिक व्यवहारकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु वहां हे ईश्वर मेरी बकरियोको नहीं मारना, मेरी भेडोको नहीं मारना, मुझे गेहूं दे, मुझे यव दे, मुझे मूँग दे, मुझे उडदं दे, ये सब निरर्थक भिक्षा मागनेकी बातें वेदोंको अपने महत्त्वसे च्युत करती हैं।

(७) उच्चतम भूमिकाका अध्यात्मवाद तो वेदोमे हैं, इसके लिये सैकड़ो मन्त्र उपस्थित किये जा सकते हैं।

(८) वेदोमें वदतोव्याघातके लिये स्थान नहीं है।

(९) (१०) इसके लिये ऊपर कह चुका हू। ऋग्वेदादि ४ विभाग विघातक हैं एकताके; और ग्रन्थका बृहत्काय विघातक है तत्त्वज्ञानका। तत्त्वज्ञानके लिये इतनी बड़ी पोथी निरर्थक है। वह भाष्य नहीं हैं कि उनका पेट चाहे जैसी और जितनी बातोसे भर दिया जाय।

अस्तु मेरा तात्पर्य इतना ही है कि वेद न तो ईश्वरीय वस्तु हैं और न केवल तत्त्वज्ञानके ग्रन्थ हैं। उनमे तत्तदृषियोके समयका चित्र है, व्यवहार है, आचार है, रूढ़ियाँ हैं, इतिहास हैं, भूगोल है और **यम-यमी** जैसे भाई-बहिनोके तत्कालीन हृदयका परिचय है। मैने कहा कि सबका अर्थ बदला जा सकता है, वे दोष नहीं बदले जा सकते जो इनपर लदे हैं। मुख्य प्रश्न तो यह है कि सर्वज्ञ त्रिकालज्ञ ईश्वरने ऐसे शब्द वेदोमे क्यो रखे

जिनके दुरर्थ भी हो सकते हैं ? अथवा पवित्र ईश्वरके पवित्र ज्ञानमे **प्रहराभि शेपम्** को कैसे आश्रय मिला ? ऐसी सीधी सरल भाषा होनी चाहिये जिससे सबको अल्पश्रमसे परिनिष्ठित ज्ञान हो सके। कि च, ईश्वरको अपनी भाषामे सीधी रीतिसे कहना चाहिये कि जीवो मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम मेरी आज्ञाका पालन करो। उत्तमपुरुषका उपयोग न करके ईश्वर सदा प्रथम पुरुषका ही उपयोग करता है मानो उसे उत्तमपुरुषकी समझ ही न हो। अस्तु।

× × ×

प्रश्न—आपने सामसंस्कारभाष्यकी प्रस्तावना पृष्ठ ८ मे "अज्ञातवस्तुका ज्ञापक वेद है" इस पक्षपर चार विकल्प उठाये हैं। वह विकल्प उचित नहीं प्रतीत होते। क्योकि उसमे आपने "ही" का अध्याहार किया है। अध्याहार करनेसे वाक्यका स्वरूप और अर्थ सभी परिवर्तित हो सकते है।

उत्तर—मैंने जो वहाँ चार विकल्प किये हैं वह अनुचित नहीं हैं, उचित ही है। **सर्वं हि वाक्यं सावधारणम्** इस न्यायसे अज्ञातवस्तुका ज्ञापक वेद है" इस वाक्यमे एवकारका अध्याहार करके, हिन्दीमे उसका अर्थ 'ही' करके चार विकल्प किये हैं। इसमे न तो अनुमानका आश्रय लिया गया है और न प्रत्यक्षका। केवल ज्ञापकताका प्रश्न है। **'अज्ञातवस्तुज्ञापको हि वेदः'** यही सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तपर किये गये विकल्प सङ्गत ही हैं।

प्रश्न—आपने सामवेदसंस्कारभाष्यकी प्रस्तावनाके पृ० ५४ मे लिखा है कि 'उस समय रेलगाड़ी, मोटर, सायकिल और विमानकी कल्पनाका काल अनुकूल नहीं था।' परन्तु हम इससे विपरीत वेदोमे विद्युद्रथ, अनश्वरथ, कार, पनडुब्बाजहाज, वायुयान इत्यादिके नाम उपस्थित पाते हैं।

उत्तर—हाँ, वेदोमे आपके बताये हुए सभी रथ है तो सही परन्तु उसी तरह, जिस तरह कि, **ईशा** (शु० य० ४०।१) शब्दसे ईसा (क्राइष्टका), **सरस्वती शब्द** से मण्डनमिश्रकी पत्नी सरस्वती, **दशरथ**से दशरथ, **सूराय**से सूरदास, **ताता पिण्डानां**से ताताकम्पनी, **रहसूरिवाग** (ऋ० २।२९।१) से रास्तेके सूर्यबाग, **बृहस्पति** (ऋ० ५।४५।५) से चार्वाक मतके प्रबोधक, **सोम** शब्दसे सोमाभाई, **कीजो** (ऋ० ८।६६।३) से हिन्दीकी (ब्रजभाषाकी) क्रिया, **कद्रू** (ऋ० ८।६६।१०) से कद्दू, **मध्वः पीत्वा** (ऋ० ८।६९।७) से मध्वाचार्य, **गर्गरः** (ऋ० ८।६९।९) से गगरी **इन्दुः** (ऋ० ९।९३।३) से इन्दुलाल, **त्र्यम्बकम्** (शु० य०) से त्र्यम्बकभाई आदि हैं।

ऋग्वेदमे एक मन्त्र है—

प्र वो वायुं रथयुजं कृणुध्वं प्र देवं विप्रं पनितारमर्कैः।
इषुध्यव ऋतसाप पुरन्धीर्वस्वीर्नो अत्र पत्नीरा धिये धुः॥
(५।४१।६)

इस मन्त्रका सीधा और स्पष्ट अर्थ यह है—ऋषि लोग यह मानते थे कि अग्नि, वायु आदि देवताओंको जब वह बुलाते थे तब सब देव आ जाते थे। रथसे आते थे, रथसे जाते थे। इसी विश्वासका फल यह मन्त्र है। अत्रि ऋषि कहते हैं कि हे ऋत्विजो, **वः** तुम लोग, **वायुम्** वायुको, **रथयुजम् कृणुध्वम्** रथ सम्बन्धी अथवा रथसे सम्बद्ध करो। वायुको रथसम्बद्ध करो' इसका तात्पर्य यह है कि वायुदेवताको रथपर बैठाकर यज्ञभूमिमे

ले जावो या ले आवो। **रथयुजं वायुं कृणुध्वम्** ऐसा नहीं है किन्तु **वायुं रथयुजं कृणुध्वम्** ऐसा अन्वय है। यदि पूर्व अन्वय माना जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि रथके जोडनेवाले अथवा रथसे सम्बन्ध रखनेवाले वायुको बनावो। द्वितीय अन्वय माननेसे यह अर्थ होता है कि वायुको रथसम्बन्धी बनावो।

यदि हम कहे कि 'वायुको रथसम्बद्ध करो' का यह अर्थ है कि 'गदड़ीमे हवा भरो' अर्थात् बाइसिकिल तैयार करो, तो इसका यहाँ प्रकरण ही क्या है ? साइकिल तैयार करो और **पनितारं देवं विप्रम् अर्कैः प्र कृणुध्वम्** ॥ स्तुत्य विप्रदेवकी स्तुतियोसे स्तुति करो।' इस असम्बद्ध उक्तिसे वेदका क्या महत्त्व सिद्ध होता है ? अतः इस मन्त्रका इतना ही अर्थ है—"वायुदेवताको रथसे बुलावो और स्तोतव्य ब्राह्मणोकी स्तुति करो।"

ऋग्वेदका एक मन्त्र है—

आ होता मन्द्रो विदथान्यस्थात्सत्यो यज्वा कवितमः स वेधाः। विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः शोचिष्केशः प्रथिवा पाजो अश्रेत्
(३।१४।१)

इस मन्त्रका देवता अग्नि माना गया है। इस मन्त्रके ऋषि ऋषभ अग्निकी स्तुति करते हैं कि "तुम होता हो, अर्थात् देवोंको बुलानेवाले हो आनन्दी हो अथवा अन्योको आनन्द देनेवाले हो, सत्य हो, अनन्त हो, बुद्धिशाली हो, यज्वाहो, वेधा हो। ऐसा अग्नि विदथोंमे—यज्ञोमे आता है। किच विद्युद्रथ, बलपुत्र, शोचिष्केश अग्नि पृथिवीपर अपना तेज फैलाता है।" यह अर्थ सायणने किया है। इसमे मुझे कोई आपत्ति नहीं है। सायणने **विद्युद्रथः** का अर्थ किया है—**'विद्योतमानयानोपेतः'** =

प्रकाशमयरथयुक्त। इसमे बिजलीसे चलनेवाली गाड़ीका वर्णन नहीं है जैसा कि कुछ लोग मानने लगे हैं। अग्नि और अग्निके रथका वर्णन है। अग्निका कोई रथ नहीं है। परन्तु ऋषि मानते थे कि अग्नि देवता है, उसका एक रथ है और वह रथ अग्निके समान ही प्रकाशमान है।

× × ×

ऋग्वेदका एक मन्त्र यह है—

परि प्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः
कारं बिभ्रत्पुरुस्पृहम् ॥ ९।१४।१ ॥

इस मन्त्रके द्वितीय पादमे **कार** शब्द आया है। इससे कुछ लोगोने कारको Car समझकर, मोटर अर्थ किया है। कारको Car अंग्रेजी शब्द मानना और उसका मोटर अर्थ करना तथा प्रकरणमे उसका कुछ भी अर्थ न होना यह उपहास नहीं है तो और क्या है?

असित देवल इस मन्त्रके ऋषि हैं। सोम इसका देवता है। इसका अर्थ है कि "बहुतोका स्पृहणीय, **कार**—कर्म धारण करता हुआ, सिन्धुकी ऊर्मिमे रहा हुआ मेधावी सोम, **परिप्रासिष्यदत्** परि—प्र—स्पन्दन करता है—प्रस्तुत होता है—बहता है। यहा सोमके तीन विशेषण हैं। बहुत लोग जिसे चाहते है उस कारको वह धारण करता है। सिन्धुकी ऊर्मिमे रहता है। वह विद्वान् है। सिन्धुकी ऊर्मिका याज्ञिक तात्पर्य है **वसतीवरी** से। उसीमे सोमका आधान होता है—निवास माना जाता है।

इस मन्त्रमे कारका अर्थ मोटर गाड़ी नहीं है किन्तु कर्मरूप अर्थ है। **करणं कारः**। भाव वाचक शब्द है।

कारका अर्थ मोटर करनेसे मन्त्रार्थ यह होगा कि—"जिसे बहुत लोग चाहते है उस मोटरको धारण किये हुए सोम सिन्धुकी ऊर्मियोमे रहता और बहता है। इस अर्थ से कोई तात्पर्य नहीं निकला।

× × ×

ऋग्वेदका एक मन्त्र है—

अश्विनोरसनं रथमनश्वं वाजिनीवतोः।
तेनाहं भूरि चाकन ॥ (ऋ० १।१२०।१०)

इसका अर्थ है—अश्वियोके अनश्वरथका मै सेवन करता हूँ अर्थात् उसका रक्षण करता हू। उससे मुझे बहुत काम लेना है। अश्विनीकुमारोके लिये कहा जाता है कि वह बिना घोड़ोके ही अपना रथ चलाते हैं। यह मान लिया गया है कि सब देव घोड़ो-से जुते हुए रथपर ही आते है। अश्वियोके पास घोड़े नहीं हैं। उनके प्रतापसे उनका रथ घोड़ेके बिना ही दौड़ता है। यह सब काल्पनिक वर्णन है। जैसे सूर्यके सारथि और घोड़ो तथा रथका वर्णन जहा तहा आलङ्कारिक रूपसे हुआ है। ऐसा ही यह वर्णन है।

अथवा **अनश्वका** अर्थ तो इतना ही है कि जिस रथमे घोड़े नहीं हैं। घोड़े नहीं हैं तो अश्वसदृश बैल होंगे। 'घोड़े नहीं हैं' कहनेसे रथमे कुछ नहीं है यह कैसे कहा जा सकता है?

अथवा अश्वका अर्थ है शीघ्रगामी। अनश्वका अर्थ है मन्द-गामी। अर्थ यह होगा कि अश्विनीके मन्दगामी रथको मैं भेजता हूं। मुझे उससे बहुत काम लेना है।

× ×

ऋग्वेदका एक मन्त्र है—

यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति।

ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः ॥
६।५८।३॥

इसका अर्थ है कि 'हे पूषन् तुमारी जो सोनेकी नावें हैं अथवा हितरमणीय नाव हैं, वे समुद्रके भीतर और अन्तरिक्षमें चलती हैं। उन्हीं नौकाओंसे तुम सूर्यकी दूत्याके पास जाते हो।' यहां पूषाका अर्थ सूर्य नहीं है, एक देवविशेष हैं। उसकी नावें समुद्रके भीतर और आकाशमे चलती हैं।

समुद्रमें चलनेवाली नाव आकाशमे नहीं चल सकती यंह एक दोष तो है परन्तु इसमे इस कल्पनाके लिये आधार अवश्य है कि भले देवोके पास ही वे नौका रही हो परन्तु ऐसी नौकाएँ थीं जो समुद्रके अन्दर भी चलती थीं और कुछ नावें आकाशमे चलती थीं। आकाशमें चलने वाली नावको ही विमान कहते रहे होगे ॥

× × ×

एक अन्य भाई ऋग्वेदका एक मन्त्र लिखकर मुझसे पूछते हैं कि वेदोंको पुनर्जन्म इष्ट है या नहीं ?

मैं इसका विचार साङ्गोपाङ्ग करना चाहता हूँ। नीचेके मन्त्रोको पढ़िये—

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः।
ररन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥
(ऋ० १०।५९।५)

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृडया नः स्वस्ति ॥
(ऋ० १०।५९।६)

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।

पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां ३ या स्वस्ति ॥
(ऋ० १०।५६।७)

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः ।
आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदः स्वाहा ॥
(ऋ० १०।१६।५)

ऋग्वेदके इन मन्त्रोसे कुछ प्रतीति होती है कि वेद पुनर्जन्मका स्वीकर करते हैं। मैं यहां प्रथम इन मन्त्रोका क्रमसे अर्थ लिखता हूं।

प्रथम मन्त्रका अर्थ—हे **असुनीते**—सबके प्राणोकी नेत्री देवि, **अस्मासु मनः पुनः धारय**—हममे पुनः मनकी स्थापना करो। **जीवातवे**—जीनेके लिये, **नः आयुः सु प्र तिर**—हमे आयुकी वृद्धि दो। **नः**—हमको **सूर्यस्य सन्दृशि**—सूर्यके दर्शनके लिये, **रारन्धि**—स्थापित करो। **त्वम्**—तू **घृतेन**—घीसे, **तन्वं वर्धयस्व**—शरीरको बढ़ा।

द्वितीय मन्त्रार्थ—हे **असुनीते**—प्राणोकी नेत्रि देवि, **अस्मासु पुनः चक्षुः धेहि**—हममें पुनः आखें रख दो। **पुनः प्राणं पुनः भोगं न इह धेहि**—इस शरीरमें या इस जन्ममें हमे पुनः प्राण और भोगसामग्री दो **उच्चरन्तं सूर्यं ज्योक् पश्येम**—उदय होते हुए सूर्यको चिरकाल तक हम देखते रहें। हे **अनुमते**—हे अनुमति देवि, **नः स्वस्ति मृडय**—हमें शश्वत् सुखी रखो।

इन मन्त्रोके ऋषि हैं बन्धु, सुबन्धु। अनुक्रमणिकामे लिखा है कि इक्ष्वाकुवंशीय एक राजा था। उसका नाम था असमाति।

उसके चार पुरोहित थे—बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु और विप्रबन्धु। ये सब गौपायन थे। राजाने इन पुरोहितोको छोडकर दो मायावी पुरोहितोंका वरण कर लिया। इससे बन्धु आदि चारो पुरोहितोने क्रुद्ध होकर राजाके लिये अभिचार किया। मायावी पुरोहितोको इसका पता लग गया। उन्होंने सुबन्धुको मार डाला। अवशिष्ट तीन भाई सुबन्धुको जीवित करनेके लिये **मा प्र गाम** (ऋ० १०।५८।१) इत्यादि मन्त्रोको जपने लगे। उसी प्रकरणमे ये उपर्युक्त दो मन्त्र भी अन्य सूक्तमे पढ़े हुए हैं। इनका भाव तो इतना ही है कि मरे हुएके लिये देवीसे प्रार्थना की गयी है कि ये पुनः जी उठे और चक्षुरादि इन्द्रिय पूर्ववत् प्राप्त हों। इन मन्त्रोसे यह नहीं सिद्ध हो रहा है कि मरे हुएके लिये उसके पूर्वजन्मके कर्मोके फल भोगनेके लिये अन्य शरीरकी प्रार्थना इन मन्त्रोमे की गयी है। वही शरीर पुनः जीवित हो उठे और पूर्ववत् अपने सर्व व्यवहारोको करने लगे, इतनी ही यहा प्रार्थना है। पुनर्जन्मके वही शरीर, वही नेत्र, वही भोग नहीं हो सकते। वह तो पूर्वजन्मोके कर्मानुसार ही प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी प्रार्थना ही निरर्थक है।

एक अन्य तत्त्व भी इस मन्त्रमे निहित है। यहाँ कहा गया है कि **'मनो अस्मासु धारय'**। यह प्रार्थना भी निरर्थक है। पुनर्जन्मवादमे मनको नित्य माना गया है। वह तो मिलेगा ही। उसके बिना तो शरीर ही निरर्थक है। शरीरके लिये मन है। जो जिसके लिये है वह उसे अवश्य प्राप्त होगा। उसके लिये प्रार्थना क्यों? इससे यह सिद्ध होता है कि **मन भी अन्य इन्द्रियोंके समान ही अनित्य है।**

अनुक्रमणिकाके इस इतिहाससे तो यह विदित होता है कि सुबन्धुके ऊपर मन्त्रप्रयोगके द्वारा जो प्राणहरणका प्रयत्न किया

गया था उसे विफल बनानेके लिये इस मन्त्रमे निर्देश है। अन्य कुछ नहीं। परन्तु इस इतिहासको छोड़ दें तब भी इन मन्त्रोसे पुनर्जन्म नहीं सिद्ध होता है। कोई मरणशय्या-निपतित रुग्ण व्यक्ति भी यही कह सकती है कि हे परमेश्वर, या हे देवि, पुनः मुझे मन दे, आयु दे, दृष्टि दे और घी खाकर हमे स्वस्थ होने दे। **'घीसे मेरे शरीरको बढ़ावो'** यह पुनर्जन्म क्या हुआ परमेश्वर-को स्वाधीन स्वाज्ञाकारी बनाना हुआ। क्या कर्मफल भोगनेका यही तरीका है ?

उपर्युक्त **पुनर्नो असुम्** यह भी इसी सूक्तका मन्त्र है। इसमे भी यही प्रार्थना है—"पृथिवी देवी हमे प्राण दे, दिव्देवी हमे प्राण दे, अन्तरिक्ष भी हमे प्राण दे, सोमदेवता हमे पुनः शरीर दे, पूषा-देवता हमे वाणी दे तथा स्वस्ति देवता भी हमे वाणी दे।" यह मन्त्र भी पुनर्जन्मका आभास नहीं कराता। ऐसा कौन मनुष्य है जो परमेश्वरसे या देवी देवोसे मरनेके पश्चात् शरीरकी प्रार्थना करेगा ? यदि शरीर मिलनेवाला ही है तो उसके लिये प्रार्थनाकी क्या आवश्यकता ? किंच वह पुनः शरीर क्यो मॉगेगा ? मोक्ष क्यो नहीं मॉगेगा ? क्या **भस्मान्तं शरीरम्** के अनुसार शरीरकी क्षणिकता, शरीरसहकृत असंख्य दुःखों और पीडाओका भान उसे नहीं रहा कि पुनः उसी दुःखसिन्धुकी वह प्रणिपातपुरस्सर याच्ञा करेगा ? पश्चात्के तत्त्वज्ञानियोने तो शरीरसे छूट जानेके-लिये ही महाप्रयत्न किये हैं। अस्तु, इस मन्त्रका भी पूर्वोक्त ही आशय है—"कोई रोगी रोगसे अपना सब कुछ खो बैठा है, पश्चात् उन्हींकी प्राप्तिकी इच्छासे प्रार्थना कर रहा है।"

ऋग्वेदके ही इसी मण्डलके १५वें सूत्रके पॉच मन्त्र ऐसे हैं जिनसे पुनर्जन्मकी सिद्धि की जा सकती है। वे मन्त्र ये हैं—

मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः ॥ ऋ० १०।१६।१॥

शृतं यदा करसि जातवेदोथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः। यदा गच्छात्यसुनीतिमेता यथा देवानां वशनीर्भवाति ॥ ऋ० १०।१६।२॥

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥ ऋ० १०।१६।३

अजो भगस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातर्वेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥ ऋ० १०।१६।४ ॥

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः। आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः॥ ऋ० १०।१६।५ ॥

ये पाचो मन्त्र यमके पुत्र दमन ऋषिके हैं। मृतपुरुषके शवदाहके समय ये बोले जाते हैं। इनका अर्थ निम्नलिखित है:

(१) हे अग्ने इस मरे हुएको तुम भस्म मत करो। बहुत तपावो भी नहीं। इसके शरीर और चर्मको इधर उधर मत फेंको। हे अग्ने, जब तुम इसे पका दोगे तब इस मृत पुरुषको पितृलोकमे भेज देना॥

(२) इस मृत शरीरको पकाते ही पितृलोकमें भेज दो। ज्यों हीं अग्नि इसके प्राणको पितृलोकमे भेजेगा त्यो ही यह देवोंके वशमे हो जायगा।

(३) हे मृतपुरुष, तेरी आँखें सूर्यको प्राप्त हो, तुम्हारे प्राण वायुको प्राप्त हो। तू अपने धर्मसे द्युलोक अथवा भूलोक अथवा अन्तरिक्षको प्राप्त हो। उस अन्तरिक्षमे अथवा द्युलोकमे अथवा भूलोकमे यदि तेरा हित हो, अपने शरीरोसे ओषधियोमें रह ॥

(४) हे अग्ने, इस मृत पुरुषका जो अज—जन्मरहित भाग है उसे तपावो। तुम्हारी ज्वाला उसे तपावे। तुम्हारा अर्चिष् भी उसे तपावे। हे अग्ने तुम्हारी जो कल्याणप्रद मूर्तिया हैं उनसे इस मृतको सत्कर्मियोके लोकमे = स्थानमे ले जावो।

(५) जो मृत मनुष्य है वह स्वधाओसे आहुत होकर यहा विचर रहा है। उसे पितृलोकमे जानेके लिये पुनः विदा करो अर्थात् प्रेरणा करो। यह मृत बचे हुए आयुसे मुक्त होकर शरीर से मुक्त हो ॥

इन मन्त्रोसे यह सिद्ध किया जाता है कि वेद पुनर्जन्मको मानते हैं। मै समझता हू कि इन मन्त्रोसे भी पुनर्जन्मकी सिद्धि नहीं होती है। वेदोके ऋषियो के मनोभाव यदि ठीक ठीक समझ लिये जायँ तो हमे बहुत दूर और इधर उधर न जाना पड़े। सत्य वस्तु यह है कि ऋषियोमेसे बहुतेरे—अधिकांश ऋषि ऐसे हैं जिन्हे कभी स्वप्नमे भी यह भान नहीं था कि मरकर जीव पुनः किसी योनि वा शरीरमे आता है या आवेगा। बहुत वर्षों तक तो उन लोगोको ईश्वरका भी विचार नहीं था। वह लोग इतना ही मानते थे कि ऊपर एक स्वर्गलोग है, द्युलोक है, अन्तरिक्ष लोक है। यज्ञादिके द्वारा ही उनकी प्राप्ति होती है। वही जीवनकी चरम सीमा है। कुछ ऋषियोका यह मत था कि जीव मरकर एक ऐसे लोकमे पहुँचता है जिसे पितृलोक कहते हैं। वह वहा ही निवास करते हैं और बुलानेपर दौड़े हुए चले आते हैं। इन्हीं द्वितीय कोटिके ऋषियोका यहां पर उल्लेख किया गया है। इन ऋषियो-

को भी पुनर्जन्ममे पूर्ण विश्वास नहीं था, केवल एक विचारमात्र था। अतः उन्होने प्रथम मन्त्रमे कहा कि इस प्रेत-मरे हुएको हे अग्नि तू भस्म मत कर, बहुत नहीं तपा, इसके शरीर और चर्म-को इधर उधर मत फेंक, केवल इसे पका दे, सेंक दे। ऐसा करने-से इसे पितृलोक प्राप्त होगा। भला कोई विचारशील यह कैसे मान लेगा कि अग्निमे कोई वस्तु डालकर प्रार्थना की जाय कि तू इसे नहीं जला, तो वह नहीं जलावेगा? इसे बहुत नहीं तप्त करना, इस कहनेसे अग्नि उसे बहुत नहीं तपावेगा? इसे सेंक दे तो इसे पितृलोक प्राप्त होगा, यह केवल एक श्रद्धा है। जैसे **स्वर्गकामो यजेत** यह केवल श्रद्धागम्य है ऐसे ही एक श्रद्धा दमन ऋषिके मनमे थी और उसके बलपर उन्होने यह सब कह डाला।

'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु' इस मन्त्रमे तुम्हारी ऑखें सूर्यके पास जायँ, तुम्हारा आत्मा—प्राण वायुके पास जाय, तू धर्मसे-कर्मसे पृथिवीलोकमे अथवा द्युलोकमे जा, पानीमे जा अथवा ओषधियो-में शरीरोसे रह, यह कहा गया है। इसमे कही हुई सभी बातें लगभग निरर्थक हैं। मान लिया जाय कि चक्षुका तेज सूर्यके तेजमे मिल जाय और प्राण महावायुमे मिल जायँ और तू अपने कर्मोसे पानी अर्थात् जलजन्तु अथवा ओषधियोमे जीवजन्तु होकर रहे, यह इस मन्त्रका भाव हो, पृथिवी और द्युलोकमे भी तू अनेक शरीरोसे रह अर्थात् अनेक शरीर तुझे समय-समयपर प्राप्त हों, यह भी इस मन्त्रका आशय मान लिया जाय, परन्तु इसमे बुद्धिको स्थान नहीं है। कोई जीव कर्मवशात् द्युलोकमे जाता है, अन्तरिक्षलोकमें जाता है, पृथिवीपर रहता है और औषधो तथा जलका जन्तु बनता है, यह अत्यन्त निर्बुद्धिक कथन है। मैं एक मनुष्य 'अ' को लेता हूँ। यह 'अ' सौ वर्षतक जी सका है। इसने

अपने जीवनमे सैकडो कर्म किये हैं। प्रत्येक मनुष्यको अपने किये शुभाशुभ सभी कर्म स्मृत ही रहते हैं। मै जब 'अ' से पूछता हूं दैहिक, वाचिक, मानसिक इन त्रिविध कर्मोमेसे तुम्हारे किये हुए कौनसे ऐसे कर्म हैं जिनका फल तुमको नहीं मिला? इसका उत्तर न तो 'अ' देता है और न, पूछनेपर कोई भी कुछ कहता है। मनुष्यके कर्म ही कितने है? बाल्यावस्थामे 'अ' विद्यालयमे पढ़ने गया। वह बालक था, उसे ज्ञान नहीं था। उसने अपने एक साथीका कलम या पुस्तक चुरा लिया। वह कलम या पुस्तक उसके पाससे मिला। शिक्षकने उसे धमकाया या मारा। पुस्तक कलम जिसका था उसे मिल गया। इस चोरीका फल मिल गया। यदि 'अ' पकड़ा न गया होता तो भी उसके मनमे तब नहीं तो, बड़े होनेपर पश्चात्ताप हुआ कि मैने चोरीकी थी—बिना पूछे किसीका पुस्तक चुरा लिया था। अच्छा नहीं किया था। पश्चात्ताप द्वारा पीछेसे फल मिल गया। उस समय चोरी न करनेकी भावनाने पूर्व चोरीके पापको धो दिया। 'क' ने 'ख' को गाली दी, मारा, पटक दिया। 'ख' ने भी 'क' को गाली दी, मारा, पटक दिया। फल मिल गया। यदि 'ख' निर्बल था उसने 'क' को कुछ भी नहीं कहा तो 'क' का स्वभाव बिगड़ गया। अपशब्द बोलना वह सीख गया। क्रोधके विना तो अप-शब्द मुखसे निकलते ही नहीं। अतः 'क' क्रोधी भी बना। उसके अनिष्ट स्वभावका यही फल मिला। अन्तमे जब किसी सबलको भी उसने गाली दी, उसने गालियाँ खायीं, मार भी खाया, पटक दिया गया, अपमानित हुआ। यह सब फल मिल गये।

युद्धमे राम-रावणके सैनिकोने, कौरव-पाण्डवोकी सेनाने एक दूसरेका वध किया, एक दूसरेपर प्रहार किया, एकने दूसरेके लिये अपमानजनक शब्दोका सहारा लिया, सभी स्वर्गमे गये।

राक्षसोंको स्वर्ग या मोक्ष मिला। रामको सीता मिली। सुग्रीवको राज्य और अपनी स्त्री मिली। विभीषणको लङ्का मिली। युद्धका फल मिल गया।

'क' पढने गया। पण्डित हो गया, विद्वान् बना, प्रतिष्ठा मिली, जीविकाका साधन मिला। अध्ययन-कर्मका फल उसे मिल गया।

'ख' ने नहीं पढा। मूर्ख ही रह गया। प्रतिष्ठा मिली नहीं, धन भी मिला नहीं। भटकता रहा। फल मिल गया।

अथवा 'क' ने पढ़ा लिखा। वह विद्वान् हुआ परन्तु सङ्ग अच्छा न मिला। दुष्टोंके, मूर्खोंके सङ्गमे चला गया। भ्रष्ट हो गया। विद्या अनुपयुक्त हुई। धिक्कारका पात्र बना। फल मिल गया।

'ख' ने पढ़ा लिखा कुछ नहीं। निरक्षर रहा। परन्तु सङ्ग उसे अच्छा मिला। सदाचारसम्पन्न बना। बुद्धिशाली बना। धनार्जन किया। सुखी बना। प्रतिष्ठा मिली। फल मिल गया।

'क' को रहना नहीं आया, खाना-पीना नहीं आया, सोना-जागना नहीं आया। स्वास्थ्य गिर गया—बिगड गया। साधन मिले। वैद्य मिला, सेवक मिले, अच्छा हो गया। कर्मफल मिल गया।

'ख' को भी रहना नहीं आया, खाना-पीना नहीं आया, सोना-जागना नहीं। उसका स्वास्थ्य गिर गया—बीमार पड़ा। उसे साधन नहीं मिले, वैद्य नहीं मिला, सेवक नहीं मिला। मर गया। कर्मफल मिल गया।

यहा यह पूछा जा सकता है कि क्या कारण है कि 'क' को साधन मिला? और 'ख' को नहीं मिला? कहा जा सकता है कि पूर्वजन्मके कर्मके अनुसार एकको साधन मिला और दूसरेको नहीं।

यहां उत्तर यह दिया जायगा कि मेरे प्रवचनको पूर्णरूपसे सुना जाय। यदि कर्म अवशिष्ट रह जाते हो तो पुनर्जन्म अवश्य

ही मानना पड़ेगा और तब पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार फलका समाधान भी हो जायगा। यदि एक भी कर्म अवशिष्ट न रह सकता हो तो पुनर्जन्म सिद्ध नहीं होगा। उसे मानना नहीं पड़ेगा और तब 'क' को साधन क्यो मिला ? और 'ख' को साधन क्यो नहीं मिला ? इन दोनोका उत्तर हम सबको मिलकर देना होगा।

माता और पिताका संयम अच्छा नहीं था, शरीर अच्छा नहीं था, रजोवीर्यकी शुद्धि और पुष्टि नही थी, बालकका जन्म हुआ और वह चला भी गया। माता-पिताके भूलका फल मिल गया। बच्चेका किसी भी फलके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। मरना किसी भी पूर्व जन्मके कर्मका फल नहीं है। जन्म होना भी किसी पूर्व जन्मका फल नहीं है। यह तो माता-पिताकी उस क्रियाका परिणाम है जो अनिवार्य है।

एक आदमी बड़ा भारी धनिक है। सहस्रो रूपयोका वह दान प्रतिवर्ष करता है। पवित्रात्मा और मधुरभाषी तथा मितभाषी है। कभी किसीकी बुराई नहीं करता। कभी किसीकी निन्दा नहीं करता, असूया नहीं करता। भगवद्भक्तिका या किसी भी भक्तिका फल जो पवित्रता, वह उसे प्राप्त है। थोड़े दिनोमे उसका धन चला गया। वह दुःखी हुआ। इसका कारण यदि पूर्वजन्मका फल न माना जाय तो अन्य कारण बताना होगा।

धन गया परन्तु उसके आने और जानेका सम्बन्ध न दानके साथ है, न पवित्रताके साथ है, न मधुरभाषिताके साथ है। किसीकी निन्दा करना या न करना, किसीसे ईर्ष्या करना या न करना इनमेसे किसीके साथ भी धनागम और धनापगमका कोई सम्बन्ध नहीं है। उस मनुष्यका धन गया क्योकि व्यापारिक काल विपरीत आया। साथी अविश्वस्त और वञ्चक थे, स्वार्थी थे। वह ठगे गये। दगा हुआ। इसमे पूर्वजन्मके कर्म हेतु नहीं हैं।

इसी जन्ममे, इसी समय, उसकी भूलने, उसके प्रमादने, स्वार्थियो, दुष्टोके सङ्गने, स्थिति बिगाड़ दी। गयी हुई चीज़ लौट सकती है, परन्तु उसके लिये समय अपेक्षित है। जो दोष, जो भूलें हमसे हुई हैं उनसे दूर रहना भी अत्यन्त अपेक्षित है। कर्ममें संयम, जीवनव्यवहारमे संयम, सर्वत्र संयम अपेक्षित है। धीरेसे वह समय पुनः आकर उपस्थित हो जाता है, जो पहले था। इसमे पूर्वजन्मके कर्म हेतु नहीं हैं। वे कर्म रहे नहीं। उनका फल उसी जन्म मिल गया। इस जन्ममे पूर्वजन्मके कर्मोंका कोई सम्बन्ध नहीं।

एक पति है, एक पत्नी है। युवावस्था है। युवावस्था चली गयी। सन्तानका दर्शन न हुआ। इसमे पूर्वजन्मके कर्म हेतु नहीं हैं। इसी जन्ममे रजो-वीर्यका दोष, गर्भाशयका दोष, शरीररचना-का दोष, यही सब कारण हैं। इन दोषोकी उत्पत्तिमे पूर्वजन्मके कर्म कारण नहीं। शरीररचना कारण है।

सच्ची बात यह है—कर्मप्रेमियोको यज्ञादि कर्म करने थे। मीमांसकोंको कर्म करना था—कराना था। उन्होने सब व्यवस्था बना रखी थी। यज्ञ करनेसे स्वर्ग मिलता है, राज्य मिलता है, सन्तति मिलती है, वर्षा होती है, सब मनोरथ सिद्ध होते हैं। यह सब कर्मफल मानवमस्तिष्कने स्थिर कर लिये थे। स्वर्गकी कल्पना भी हो चुकी थी। स्वर्गके लिये यज्ञ किया और कराया गया। कर्म समाप्त हुआ। स्वर्ग तो उसे मिला ही नहीं। यजमान-को समझा दिया गया कि तेरे कर्मका फल देनेवाला **अपूर्व** बन चुका है। तू मर जायगा तो स्वर्ग मिल जायगा। यजमानने पूछा कि मुझे स्वर्ग मिलना ही है क्योकि कर्म उसके लिये मैंने किया है। मैं अभी ही क्यो नहीं मर जाता और स्वर्ग प्राप्त कर लेता? उत्तर दे दिया गया कि **नाभुक्तं क्षीयते कर्म** भोगके विना, कर्म-

फलका पूर्णतया भोग किये विना कर्म नष्ट नहीं होते। पुरोहित-याजकको तो यज्ञ करानेका फल मिल गया। धन चाहता था, भूयसी दक्षिणाकी आशा थी। सब कुछ मिल गया। उसका श्रमिक उसे प्राप्त हो गया। रह गया यजमान। वह मरकर स्वर्गमे गया या नरकमे गया, या कहीं नहीं गया, इसका क्या पता? आजतक किसीने मरकर समाचार तो भेजा ही नहीं है कि जिससे निश्चय हो कि अमुक जन स्वर्गमे पहुँच गया है। कहना कहनेवालेका कर्तव्य है। सुनना सुननेवालेका कर्तव्य है। स्वर्ग-अपवर्ग न तो कुछ है और न किसीको कुछ मिलता है। स्वार्थियोंने मूर्खोंको बहका रखा है। अब मैं इसी प्रसङ्गमे योगदर्शनके दो सूत्रोंपर विचार करूँगा।

(१) सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ साधन० १३॥

इसका अर्थ—जब तक क्लेश अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (योग० सा० ३) ये पञ्चक्लेश वर्तमान रहते हैं तभीतक कर्माशय विपाकारम्भी होते हैं। वे विपाक तीन प्रकारके होते हैं—जातिविपाक, आयुर्विपाक और भोगविपाक। जातिशब्दका अर्थ जन्म अथवा योनि है। इस सूत्रसे विद्वानोंने यह सिद्ध किया है कि कर्मोंके फलानुसार जीवको विविध योनियोमे चक्कर लगाना पड़ता है। सर्प, बिच्छू, मच्छर, खटमल, दीमक, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि, अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र आदि, ईसाई, मुसलमान, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि, नास्तिक, आस्तिक आदि जीवोंको कर्मानुसार बनना पड़ता है।

यह अत्यन्त अविचारित-रमणीय कथन है। पहली बात तो यह है कि न तो धर्मके स्वरूपका कोई वास्तविक निर्णय है और न अधर्मके स्वरूपका। जगत्के मनुष्योंने अपने अपने अनुकूल धर्म-अधर्मकी कल्पना कर रखी है। एक हिन्दु है, वह गोरक्षाको

परमधर्म मानता है। वही यज्ञमे गोवध भी कर लेता है। वसिष्ठ गोरक्षाको धर्म मानते ही रहे होगे परन्तु **वत्सतरी मडमडायिता** (उत्तरराम०) एक बछड़ी खा गये थे। निषिद्ध कर्म निकृष्ट योनिमे ले जाकर निषिद्ध फल देता है। विहित कर्म उत्कृष्ट योनिमे ले जाकर उत्कृष्ट फल देता है। मांसभक्षण निषिद्ध कर्म है। गोमांस-भक्षण निषिद्धतम कर्म है। मासभक्षणत्याग विहित कर्म है। यह विहित और निषिद्ध अपने अपने मनसे शास्त्रकारोने कल्पित कर लिये हैं। इसमें ईश्वरीय वचन कुछ भी नहीं है। वसिष्ठका शरीर तो विहित कर्मका फल था। उसमे पाप कर्म कैसे किया जा सका। उत्कृष्ट योनिमें उत्कृष्ट कर्म ही होने चाहिये। वसिष्ठके सम्बन्धमें योगसूत्रका निर्णय विफल है।

अभी तक ईश्वरने तो कहा नहीं है कि किन-किन कर्मोंका फल ब्राह्मण जाति है, किन कर्मोंका फल क्षत्रिय जाति है, किन कर्मोंका फल वैश्य जाति है और किन कर्मोंका फल शूद्र, अतिशूद्र आदि जातियों हैं। केवल मनुष्यने ही सब कल्पनाएँ की हैं। स्वर्ग-नरककी कल्पना भी मानवीय ही है। मनुष्योने समझ रखा है कि हम जो कुछ कह देंगे, ईश्वर मान लेगा। हिन्दुओंने यही समझा है—अन्योंने भी यही समझा है। नहीं तो नियम बनावे मनुष्य और निग्रह-अनुग्रह करे ईश्वर, यह सम्भव ही कैसे हो सकता है? राजाज्ञाके भङ्ग करनेवालेको ही राजा दण्ड देता है और दे सकता है। ईश्वराज्ञाभङ्गके लिये ही ईश्वर किसीको दण्ड्य मान सकता है। मनुस्मृतिकी आज्ञाएँ, उसके विधान ईश्वरीय नहीं हैं। तब उसने जो कुछ कह दिया, ईश्वरने मान लिया, ऐसा कहना और मानना अत्यन्त जड़ता है। गाय और कुत्ते किस कर्मके फल हैं, इसे कौन कह सकता है? मच्छर और खटमल किस कर्मके फल हैं, कौन कह सकता है? मनु कह सकते हैं तो उनके कहनेका

प्रमाण ही क्या है ? उन्होने कहा, अच्छा कर्म करो, असत्य मत बोलो। हम अच्छा कर्म करते हैं, असत्य नहीं बोलते हैं—इसलिये हम सुखी हैं, प्रतिष्ठित हैं। यह हमारा अपना अनुभव है। अतः हम मनुकी आज्ञा मान लेते हैं। पाप मत करो, सत्य बोलो, उन्होने कहा, हमने नहीं माना। हम पाप करते हैं, हम असत्य बोलते है—इसलिये हम दुःखी है, अप्रतिष्ठित हैं। यह हमारा अपना अनुभव है। अतः हम मनुकी आज्ञा मान लेते हैं। परन्तु अमुक कर्मसे अमुक जाति, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े पैदा होते हैं, मनुकी इस विधानका कोई अनुभव नहीं है, कोई प्रमाण नहीं है, कोई युक्ति नहीं है। किसी योनि और जातिका देना मनुके हाथकी बात नहीं है। ईश्वरके हाथमे यह काम सौंपा गया है। तब मनुके विधानके अनुसार ही ईश्वर फलप्रदान करेगा यह कैसे माना जा सकता है ?

पुनर्जन्म माननेवाले लोग पुस्तको और समाचारपत्रों या मासिकपत्रोके बलपर यह कहा करते हैं कि एक बालक वहाँ पैदा हुआ। शैशवावस्थामे ही उसने पूर्वजन्मकी बात कही, अपना घर और अपने कुटुम्बियोको पहचान लिया, बाल्यावस्थामे ही व्याख्याता बन गया, उपदेशक बन गया, ज्ञानी बन गया, यह सब बातें अविश्वसनीय हैं। कपिल आये नहीं, कणाद आये नहीं, गौतम आये नहीं, व्यास आये नहीं, पाणिनि आये नहीं, पतञ्जलि आये नहीं, वाल्मीकि आये नहीं, तिलक आये नहीं, गोखले आये नहीं, दादाभाई नौरोजी आये नहीं, दयानन्द आये नहीं, गाँधी आये नहीं। आये, तो कोई प्रमाण नहीं। किसीने आकर कहा नहीं कि मैं पहले अमुक था। अतः यह युक्ति युक्ति नहीं, युक्त्याभास है।

योगदर्शनका निम्नलिखित सूत्र भी पुनर्जन्मकी सिद्धिके लिये उपस्थित किया जाता है—

स्वरसवाही विदुषोपि तथा रूढोभिनिवेशः ॥

साधन० ९॥

अभिनिवेश नामवाले क्लेशकी व्याख्यामे यह सूत्र है। इसका अर्थ है कि संस्कारवशात् विद्वानोको भी मरणभय आरूढ़ है। अर्थात् मूर्ख और विद्वान् दोनोको ही मरणभय होता है। यह इस बातका परिचायक है कि पूर्वजन्ममे अनुभूत मरणका दुःख स्मृत होता है। यह कथन भी अयुक्त ही है। मूर्ख और विद्वान् दोनो ही अपने सम्पूर्ण जीवनमे मरते हुए कीड़ो, मकोड़ो, पक्षियो और मनुष्योको देखते हैं अतः उन्हे भय होता है। इससे पूर्वजन्मकी कल्पना बहुत दरिद्र है।

पशु-पक्षी आदिको भी मरणभय होता है, इस विषयमे कोई निर्णय नहीं है। मनुष्येतरको मरणभय होता ही नहीं, ऐसा विद्वानोका मत है। सर्प सर्वत्र मनुष्योके बीचमे भी, पशुओ और पक्षियोके बीचमे भी निर्भय घूमता है। बिच्छू भी ऐसा ही करता है। व्याघ्र और सिंह भी ऐसा ही करते हैं। लाठी देखकर कुत्ता, बिल्ली, गाय, बैल, बकरी भेंड़, गधे आदि भग जाते हैं, परन्तु मरणभयसे नहीं, मारके भयसे। मारका उन्हे अनुभव रहता है। वही अनुभव उन्हें भगा देता है। अतः—

'स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसम्भावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मक पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति।'

यह इस सूत्रका व्यासभाष्य असङ्गत है।

आत्माके नित्यत्वकी सिद्धि करते हुए न्यायदर्शनमे गौतमने एक सूत्र पढ़ा—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ ३।१।२१॥

गौतम कहते हैं कि बालक उत्पन्न होकर दूधपानकी इच्छा करता है। गायका बछडा पैदा होते ही माँके स्तनकी ओर दौड़ता है। यह इच्छा तभी बन सकती है यदि आत्माको नित्य मानें। वह नित्य आत्मा पूर्वजन्ममें भोजनका-पानका-दुग्धपानका अभ्यास कर चुका है अतः दूसरे जन्ममे उत्पन्न होनेके साथ ही आहार-दुग्धपानका अभिलाष करता है।

इस सूत्रसे पूर्वजन्मकी सिद्धि नहीं हो सकती। स्वभावका अनुभव न होनेसे ऐसा लिखा गया है। प्राणीका एक स्वभाव है। प्राणीको भूख और प्यास लगना स्वाभाविक है। मल और सूत्रका तत्तदिन्द्रियसे बाहर निकलना स्वाभाविक है। नासिकासे श्वास प्रश्वासका आना जाना स्वाभाविक है। इन सबसे पूर्वजन्म नहीं सिद्ध किया जा सकता। घडीके काँटे नियमित कर दिये जायँ और घड़ी चलने लगे, इससे पूर्वजन्मका अभ्यास सिद्ध नहीं करना चाहिये। किंच बच्चा माँके पेटसे बाहर आते ही दूध पीने लगता है यह भी असत्य है। उसके मुँहमे स्तन डाला जाता है। वह स्वाभाविक उसे होठो और मसूडोसे दबाता है। दूध निकलने लगता है। दो चार वारमे ऐसा करनेका स्वभाव उसका बन जाता है। दूध पिलाता है—पेट भरता है—तृप्ति होती है अतः माँके स्तनको चूसनेका बच्चेको—बछडेको-पाड़ेको-पिल्लेको अभ्यास हो जाता है। यह अभ्यास पूर्वजन्मका नहीं, इसी जन्मका है। मुँह हिलाना, पुच-पुच करना, बालस्वभाव है। पुच-पुच करते करते उसने दूध पीना सीख लिया।

बालक माँके स्तनको पकड़कर पीता है। बछड़ा स्तनमें मुँह मारकर पीता है। यह तत्कालीन अभ्यासका फल है।

वानरका बच्चा माँके पेटमें लिपटना सीख जाता है, कूदना सीख जाता है, एक शाखासे दूसरीपर कूदना, शाखा पकड़कर

लटकना, भयके समय माँके पास दौड़ जाना, यह सब पूर्वजन्मका सस्कार नहीं है। वानरस्वभाव है। वह अभी ही उसे प्राप्त हुआ है।

एक ऐसा बच्चा जिसके पीठमे खूँद निकल आयी हो और वह बड़ा होने पर झुककर चले तो वह उसके पूर्वजन्मका अभ्यास नहीं कहा जा सकता।

जलौका—जोंक जलमें रहती है, मनुष्यके शरीरमे लग जाती है, घावमे विशेषरूपसे लग जाती है, रक्त पीकर गिर जाती है। यह रक्तपान पूर्वजन्मका अभ्यास नहीं है—जलौकःस्वभाव है।

अनादिकालसे जिस योनिमे जो स्वभाव प्रवृत्त है उस योनिका आत्मा उसी स्वभावका अनुसरण करने लग जाता है। इसमे पूर्व जन्म कारण नहीं।

साँचा तैयार किया गया। उसमेसे जो भी चीज़ ढलकर बाहर आवेगी उसी साँचेका ही रूप धारण करेगी। इसमें पूर्वजन्म कारण नहीं।

आँखसे देखना, कानसे सुनना, पैरसे चलना, अङ्गुलियोंसे पकड़ना, सींगसे मारना, दाँतसे काटना यह सब प्राणिस्वभाव है। एवम् खाना-पीना-सोना, हँसना, चौंकना, रोना आदि मानव-स्वभाव है। पूर्वजन्म इसमें हेतु नहीं।

पूर्वजन्मको हेतु माननेसे यह मानना पड़ेगा कि यह नवजात वानर पूर्वजन्ममे भी वानर ही था। नवजात चूहा पूर्वजन्ममें भी चूहा ही था। बछड़ा भी पूर्वजन्ममे बछड़ा ही था। तब पुनः पुनः उसी योनिमे आना सिद्ध होगा परन्तु कभी मनुष्य कभी चूहा कभी बिल्ली, कभी सर्प, यह सब घटमाला सिद्ध नहीं होगी।

मेरे व्याकरणटीका ग्रन्थोंके श्रीगुरु स्वामी सरयूदासजी महाराज (अयोध्या) ने एक समय कहा था कि जीव सभी योनियोमे भ्रमण कर चुका होता है। जब जिस योनिमे जाता है तब उस

योनिका गुण-धर्म-स्वभाव स्मृत हो जाता है। यह भी मुझे अच्छा समाधान प्रतीत नहीं हुआ। मैं अन्यत्र कहीं लिख चुका हूँ कि मनुष्य योनिमे आकर जीव कभी भी अधम योनिमे नहीं जाता है। मनुष्य योनिमे ऐसा कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता जिसका फल कुत्ते, बिल्ली, साँप, छुछुन्दरकी योनि हो। मनुष्यसे अन्य अधम योनिमे जीवके जानेकी बात तो अत्यन्त मूर्खतापूर्ण है। यह सिद्धान्त सर्वथा अशुद्ध है।

तब यह भी मानना ही पड़ेगा कि पुनर्जन्मसिद्धान्तके अनुसार मनुष्य पूर्वजन्ममे भी मनुष्य ही था। पूर्वजन्मका मनुष्य भी उससे पूर्वमे मनुष्य ही था। तब मरकर भी मनुष्य मनुष्य ही होगा। अन्य योनियोमे जानेका सिद्धान्त स्वतः खण्डित हो गया। योग-दर्शनके सूत्रका यह भी एक उत्तर है। कर्मानुसार मनुष्यजीव ८४ लाख योनिमे भटकता है, यह कथन समाप्त हो गया।

जीवके लिये तीन योनियाँ है—कर्मयोनि, भोगयोनि और कर्म-भोगयोनि (उभययोनि)। इस सिद्धान्तको माननेवाले कहते हैं कि मुक्तिसे लौटे हुए जीव सृष्टिके आरम्भमे कर्मयोनिमे आते हैं। उनके पूर्वके कोई कर्म तो होते नहीं हैं अतः उन्हे नये कर्मोंका आरम्भ करना पड़ता है। अन्य सामान्य मनुष्य उभययोनिमे आते हैं। वे पूर्वजन्मके किये हुए पाप-पुण्य-कर्मोंका फल भोगते हैं और नये कर्म करते हैं अगले जन्मके लिये। भोगयोनिमे पशु-पक्षी-कृमि-कीट पतङ्ग आदि आते हैं। यह विभाग अवैज्ञानिक और अतर्क्य है।

इन सब विवरणोसे—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥

योग० साधन० १२॥

पतञ्जलिके इस सूत्रसे प्रतिपादित सिद्धान्तका भी खण्डन हो

जाता है। सिद्ध हुआ कि पूर्वजन्मके कर्मोंके आधारपर मनुष्य सब कुछ दुःख सुख भोगता है यह सिद्धान्त नितान्त अशुद्ध है।

मैंने पीछे भी और यहा भी वेदोको अपूर्व और अद्वितीयग्रन्थ तथा आर्योंका प्रशस्त विद्याभण्डार कहा है। मेरा यह कथन न तो आवेशका परिणाम है और न किसी पक्षपातका या अन्धश्रद्धाका। प्रत्युत इस कथनके लिये मेरे पास बहुतसे प्रमाण हैं। मैं कुछ वेदवचनोको नीचे उद्धृत करता हू।

१—सर्वोच्च विकसित-मानवताका आदर्श

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

ये तीनो ऋचाएँ ऋग्वेदके दशम मण्डलकी अन्तिम ऋचाएँ हैं। इनमे मानवोन्नतिके आदर्श, मानवजीवनकी सफलताका आदेश, सर्वोत्कृष्ट प्रेम और समाजरचना तथा अद्भुत ऐक्यका दर्शन हो रहा है। यह सभी मन्त्र संवनन आङ्गिरस ऋषिके हैं।

२ सर्वोच्च विचार

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

ऋ० १।८९।८॥

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ शु० यजु० २२।२२॥

ऐसे तो वेदोंमें अनेक मन्त्र हैं जो शुभ्र और उदात्त विचारोंसे मानवजीवनको शृङ्गारित बनाते हैं।

३—आयुर्वेद

यह तो सभी मान लेंगे कि वेद न चरक हैं, न सुश्रुत और ना ही माधवनिदान। वेदोंमें केवल विद्याओंका स्रोत ही ढूंढ़ना चाहिये। वह स्रोत वेदोंमें उपस्थित है। देखिये—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥

ऋ० १०।९७।६॥

यहाँ कहा गया है कि जैसे राजा लोग समितिमें समवेत होकर बैठते हैं वैसे ही सब ओषधियाँ जिनके पास सङ्गृहीत रहती हैं वही विप्र भिषग्=विद्वान् वैद्य है। वही **रक्षोहा** है और वही **अमीव**—चातन है। इस मन्त्रसे यह स्पष्ट कहा गया है कि वैद्यके पास ओषधियोंका भण्डार होना चाहिये। तथा, सभामें राजा लोग जैसे क्रमसे—अपनी अपनी मर्यादाके क्रमसे बैठते हैं ऐसे ही सब ओषधियोंको क्रमसे रखना चाहिये। **रक्षोहा** और **अमीवचातन**

है। इस मन्त्रसे यह स्पष्ट कहा गया है कि वैद्यके पास ओषधियो-का भण्डार होना चाहिये। तथा, सभामें राजा लोग जैसे क्रमसे— अपनी अपनी मर्यादाके क्रमसे बैठते हैं ऐसे ही सब ओषधियोको क्रमसे रखना चाहिये। **रक्षोहा** और **अमीवचातनः** इन दो शब्दोसे **रक्षस्** नामके रोगका तथा अमीवा नामके रोगका उल्लेख हुआ है।

ऋग्वेदके १० वे मण्डलका ९७ वां सूक्त साराका सारा ओषधियोके गुणगान और स्वरूपज्ञानसे भरा हुआ है। उसीमेंसे एक मन्त्र ऊपर लिखा गया है। अन्य मन्त्र भी लिखे जाते हैं।

या ओषधीः पूर्वजाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै न बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥ १०।९७।१॥

इस मन्त्रमे ओषधियोके वसन्त-प्रावृट्-शरद् इन तीन ऋतुओमे उत्पन्न होनेका उल्लेख है। कि च बभ्रुवर्णवाली ओषधियाँ लेप, मार्जन स्नानादिके उपयोगमे सहस्रो प्रकारसे आती थीं इसका भी उल्लेख है।

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो पूयमिमं मे अगदं कृत॥

इस मन्त्रमे एक ओषधिका नाम **अम्ब** बताया गया है। अथवा अम्बा नाम होगा। उसके सैकड़ो उपयोगोका होना कहा गया है। सहस्रो स्थानोमे वह पैदा होती रही होगी, यह भी कहा है। पुनः उसे **शतक्रतु** कहकर कहा गया है कि हे अम्ब, तू हमारे इस जनको नीरोग बना।

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः॥

इस मन्त्रमें पुष्पवती, फलवती और अवश्य सफल होनेवाली ओषधियोका उल्लेख है।

सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष ॥

इस मन्त्रमे ओषधियोके गुणोपर मुग्ध होकर कहा गया है कि वैद्यराज, मै तुमको घोड़ा, गाय, वस्त्र, कि बहुना, अपनेको भी अर्पण करता हूँ।

ओषधीः प्राचुच्यवुः ॥ ऋ१०।९७।१० ॥

इसमे ओषधियोसे आसव निकालनेका वर्णन है।

साकं यक्ष्म प्र पत ॥ १०।९७।१३ ॥

इस मन्त्रमे यक्ष्मा जैसे भयङ्कर रोगके नष्ट होनेकी बात कही गयी है। वह भी चिरकालमे नहीं, किन्तु जैसे पक्षी पक्षबलसे शीघ्र उड़ जाता और अदृश्य हो जाता है उस प्रकारसे यक्ष्माके अदृश्य होनेकी बात कही गयी है।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

यजुर्वेदके इस प्रसिद्ध मन्त्रमे त्र्यम्बक शङ्करका नाम नहीं है। शङ्करके त्रिनेत्रकी कल्पना लगभग पौराणिक है। सूर्य, चन्द्र और अग्निको लेकर वैदिकोने भी परमात्माको त्र्यम्बक माना है। यह बहुत इष्ट नहीं है। चन्द्र तो स्वयं अन्धा है। उसे नेत्रस्थानीय मानना अयुक्त है। सूर्य भी तो अग्नि ही है। अथवा अग्निको अलग मान लें तो भी द्विनेत्र ही परमात्मा होता है, त्रिनेत्र नहीं। अतः यह त्र्यम्बक एक ओषधिका नाम है। इसमे आंखो जैसे ही तीन चिह्न रहा करते थे। वह सुन्दर गन्धवाली ओषधि थी। वह पुष्टिकारक भी थी। ऐसे अनेक मन्त्रोमे आयुर्वेदका मूल सुन्दर रीतिसे प्रायः सभी वेदोमे सुरक्षित है।

४—ज्योतिर्वेद

ज्यौतिषशास्त्रमे दिन, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष, सूर्य, चन्द्र नक्षत्र, अयन आदिका निरूपण होता है। इन सबका मूल वेदोमे उपस्थित है।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

इस मन्त्रमे दिन, रात, सूर्य, चन्द्र, आकाश, द्युलोक आदिका संकेत है।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥

ऋ० १।१६४।४८॥

इस मन्त्रमे वर्षके १२ महीनो, ३६० दिन, शीत, उष्ण, प्रावृट् (ये तीन ऋतु) आदि कहे गये हैं।

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदंगं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते॥

अथ० १३।३।८॥

इस मन्त्रमे मलमासका भी उल्लेख है जो त्रयोदश मासके नामसे कहा गया है।

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृतां चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे॥

अथ० १९।७।२॥

इस मन्त्रसे आरम्भ करके सूक्तके अन्ततक चार मन्त्रोमे सभी नक्षत्रोके नाम गिनाये गये है। वैदिककालमे राशिका व्यवहार नहीं था अतः राशि वेदोमे अनुपलब्ध है।

चन्द्रमा इन नक्षत्रोमे गमन करता है इसका वर्णन करनेवाला मन्त्र भी अथर्ववेदमे उपस्थित है—

यानि नक्षत्राणि दिव्यरन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु॥
अथ० १९।८।१॥

मास और पक्षका वर्णन देखिये—

अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह॥ अथ०११।७।२०॥

ऋतुओका वर्णन देखिये—

ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त (अथ० १२।१।३६) इन छह ऋतुओका वैदिक ऋषियोको ज्ञान था।

उत्तरायण, दक्षिणायनसे भी वे परिचित थे।

(५) रेखागणित—

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥ अ० ५।४०।५॥

इस मन्त्रमे अक्षेत्रविद्को ग्रहणका ज्ञान नहीं हो सकता, ऐसा कहा गया है। क्षेत्रविद् अर्थात् रेखागणितका विद्वान्। इससे सिद्ध होता है कि रेखागणितका ज्ञान वैदिक ऋषियोको अवश्य था और वह यज्ञकी वेदियोमे उपयुक्त होता था। **मा असि, प्रमा असि, प्रतिमा असि,** यह भी रेखागणितका ही एक भाग है।

६—भौगोलिक ज्ञान

अथर्ववेदके ११ वे काण्डमे एक **उच्छिष्टब्रह्मसूक्त** है। उसमे एक मन्त्र यह है—

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेधि श्रिता दिवः।

इस मन्त्रमे कहा गया है कि नव भूमियाँ और समुद्र सब उच्छिष्ट सवश्रेष्ठ ब्रह्ममे स्थित हैं। नव भूमि शब्द केवल द्वीपोके लिये आया हुआ है।

७—शारीरिक ज्ञान

अस्थि, स्नाव, मास, मज्जा (अथ० ११।८।११) अङ्ग, पर्व (अथ० ११।८।१२) ऊरू, पाद, अष्ठीवान् (पिण्डी), शिर, हस्त, मुख, पृष्ठीः (पृष्ठवंश) पार्श्व (अ० ११।८।१४) जिह्वा, ग्रीवा, कीकस (अस्थि) त्वच् (अ० ११।८।१५) इत्यादि आयुर्वेदमें उपयोगी शरीरावयव वेदकालमे वैदिकोने निर्णीत कर लिये थे।

स्वप्न, तन्द्रा, जरा, खालत्य, पालित्य, दुष्कृत, वृजिन, बल, ओजस्, इत्यादि शरीरसम्बन्धी परिवर्तनोको वह जानते थे।

हस, नृत्त, आलाप, प्रलाप, आभीलापलय, ये सब वैदिक ऋषियोको विदित थे।

प्राण, अपान, व्यान, उदान, चक्षुः, श्रोत्र, वाक्, मनस्, चित्त, संकल्प, मन आदि और उनके धर्म उन्हे विदित थे।

८—पक्षी आदिके ज्ञान

गृध्र, श्येन, ध्वाङ्क्ष (अथ० ११।९।९) श्वापद, मक्षिका, कृमि, (अथ० ११।९।१०) अयोमुख, सूचीमुख, विकङ्कतीमुख (अथ० ११।११।३) यह सब पक्षी, शृगाल, सिह, व्याघ्र, ऋक्ष आदि पशु उन्हे विदित थे। गाय, बकरी, भेंड़, अश्व, गज ये सब तो विदित थे ही।

९—मार्गनिर्माण ज्ञान

जनायनमार्ग, रथमार्ग (अथ० १२।१।४७) इत्यादि उन्हे विदित थे। उनकी व्यवस्था आजसे अच्छी थी। ऋ० १।३५।११ मे भी मार्गको शुद्ध रखनेका वर्णन है।

१०—ग्रामादिनिर्माण

ग्राम, अरण्य, सभा, समिति, (अथ० १२।१।५६) इनका और इनकी रचनाका ज्ञान वैदिक ऋषियोको भले प्रकारसे था।

११—दिन-निश्चय

'यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति' (अथ० १२। २५) इस मन्त्रसे प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषियोने अपने अथवा तत्कालीन सभी मनुष्योके व्यवहारके लिये क्रमिक दिनोकी संज्ञा बना रखी होगी।

१२—गणित

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता···(शु० यजु० १७।२) इस मन्त्रमे इकाई दहाईसे लेकर परार्धपर्यन्त संख्याका निर्देश हुआ है जो अब तक प्रायः इसी रूपमे प्रचलित है। यह अङ्कगणित है। यजु० १८।२५ मे ४-४ बढ़ाकर संख्या लिखनेका क्रम है। अथ० १३।४।१६-१८ तक संख्येयका उपदेश है।

१३—चित्रकला विज्ञान

यज्ञोकी वेदीके, यज्ञकुण्डके अनेक प्रकार होते थे, अनेक आकृ-

तियाँ होती थीं। यदि वे लोग चित्रकलासे सर्वथा अपरिचित होते तो विभिन्न आकृतियोंका बनाना अशक्य होता। सम्भव है कि वे लोग जहां जिस आसनपर बैठानेके लिये इन्द्र, वरुण, अश्विनी, अग्नि, वायु आदि देवताओंका आह्वान करते थे उनका उन आसनोंपर चित्रनिर्माण भी करते हों। कुण्डों और वेदियोंके बनानेमें रेखागणित, अङ्कगणित, ज्यामिति इन सबका उपयोग होता था।

१४—सौन्दर्यशास्त्र

वेदोंमें सौन्दर्य तो कूट-कूटकर भरा हुआ है। सौन्दर्यके स्थान अनेक हैं: भाषासौन्दर्य, रूपसौन्दर्य, प्रकृतिसौन्दर्य इत्यादि। वेदोंमें ये सभी उपस्थित हैं।

भाषासौन्दर्य—भाषा सौन्दर्यके लिये अक्षरसौकुमार्य और शब्दसौकुमार्य अपेक्षित हैं। 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' में भाषाका कोई सौन्दर्य नहीं है। अक्षर और शब्द कान फोड़े डालते हैं। यदि इसीके स्थानपर **'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः'** बोलते हैं तो माधुर्यका स्रोत बहने लगता है। एक भी कठोर अक्षर नहीं और कठोर शब्द नहीं। वेदोंमें सैकड़ों मन्त्र ऐसे हैं जो बडे ही भाववाही और सरस अक्षरों तथा शब्दोंसे ग्रथित हैं। यथा—

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्। शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ अथ० २०।९६।९ ॥

इस मन्त्रमें शब्दालङ्कारका ढेर लगा हुआ है। न तो कोई व्यञ्जन कठोर है और न शब्द।

रूपसौन्दर्य—

अहं वि ष्याभि मयि रूपमस्या वदेदित्पश्यन्मनसा कुलायम् ॥

अथ० १४।१।५७ ॥

अघोरचक्षुरपतिध्न्येधि शिवाः पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ।
वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

ऋ० १०।८५।४४ ॥

इन मन्त्रोमे रूप भरा हुआ है ।

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥

अथ० १४।२।३२ ॥

इस मन्त्रमे तो सौन्दर्य सीमातिक्रमण कर गया है ।

महानग्नी महानग्नं धावन्तमनुधावति ।
इमास्तदस्य गा रक्ष यभ मामद्ध्यौदनम् ॥

अथ० २०।१३६।११ ॥

इस मन्त्रमे अश्लीलतापूर्ण सौन्दर्य और माधुर्य है ।

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् ।
न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी ॥

अथ० २०।१२६।६ ॥

इस मन्त्रका ऋषि वृषाकपी कहता है कि मेरी स्त्री कर्कशस्वर-वाली नहीं है, शीघ्रगामिनी नहीं है, पतली नहीं है, और बहुत मोटी नहीं है ।

प्रकृतिसौन्दर्य—वेदोमे जहा तहा नदियो, पर्वतो, मनुष्य-स्वभाव, मानवका सामूहिकजीवन, इत्यादिका वर्णन प्रकृति-सौन्दर्यसे सम्बन्ध रखता है ।

१५—विमान-जहाज

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पततां वेद नावः समुद्रियाः।
तुग्रो ह भुज्युमश्विनोरमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥

ऋ० १।११६।३ ॥

तिस्रः क्षपास्त्रिरहाति व्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः ॥

ऋ० १।११६।३ ॥

यहा राजर्षि तुग्रकी आख्यायिकामे नाव-जहाजका नाम आया है। **वेदा यो वीनां पदम्** इस मन्त्रमें विमानका आभास मिलता है। यह सब अकस्मात् नहीं है। यह कला उस समय विकसित हो चुकी थी।

१६—कूपविद्या

परावतं नासत्यानुदेथामुच्चाबुध्नं चक्रथुर्जिह्मबारम्।
क्षरन्नापो न पायनाय राये सहस्राय तृष्यते गोतमस्य ॥

ऋ० १।११६।९ ॥

इस मन्त्रमें **उच्चाबुध्नम्** और **जिह्मबारम्** इन दो शब्दोसे कूपरचनाका संकेत हुआ है। मन्त्रमें **परावतम्** शब्दमें सन्धि है, **परा + अवतम्।** **अवत** का अर्थ कूप है।

१७—पात्रनिर्माण

शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः ॥ ऋ० १।११६।७ ॥

यहाँ स्पष्ट ही कुम्भका नाम आया है। छोटे मोटे सभी अन्य

आवश्यक पात्र भी बनते रहे होगे यज्ञपात्रोका तो उल्लेख वेदमें ही है।

१८—अग्निशमकयन्त्र

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमती···॥ ऋ० १।११६।८॥

इस मन्त्रपर एक आख्यायिका है। अत्रि ऋषिको पीडायन्त्र-गृहमें ले जाकर असुरोने तुषाग्निसे जलाना आरब्ध किया। तब अत्रिकी स्तुतिसे अश्वीने आकर अग्निको शान्त किया और ऋषिको बचाया। (ऋ० १।११७।३) में भी यही कथा रूपान्तरसे आयी है।

१९—कायपरिवर्तन

जुजुरुषो नासत्योत···(ऋ० १।११६।१०) इस मन्त्रमें वृद्ध च्यवन ऋषिकी युवावस्थाप्राप्तिका सूचन है। उस समय आयुर्वेद इतना उन्नत हो चुका था कि वृद्धको युवा बना दिया जाता था।

२०—कलाकौशल

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि······॥ ऋ० १।११६।१५॥

राजा खेलकी विश्पला स्त्रीका पैर युद्धमें कट गया था। अश्वियोने आकर लोहेका पैर लगा दिया था। इस मन्त्रमें इसका वर्णन है।

२१—अन्धोंको नेत्रप्रदान

शतं मेषान्······॥ ऋ० १।११६।१६॥

इस मन्त्रमें अन्धेको आँख देनेकी कथा है।

२२—कूपमेंसे जल ऊँचे ले आना

शरस्य चिदार्चत्·········॥ ऋ० १।११६।२२॥

इस मन्त्रपर एक कथा है। ऋचत्कपुत्र शरको तृषा लगी थी। कूप गहरा था। कोई साधन जल ऊपर लानेका नहीं था। अश्वि-देवोंने जल ऊपर लाकर शरको जलतृप्त किया। यहा यन्त्रका संकेत है।

२३—रथमें बैल और मगर

यद्यातं दिवोदासाय ....॥ ऋ० १।११६।१८ ॥

इस मन्त्रमें बैल ग्राह दोनोंको एक रथमें जोड़कर रथ चलानेकी बात कही गयी है।

२४—नीतिशास्त्र

शु० यजु० ५।३४, ५।३६, १।५, १।२३, ३४।१, १८।६, १८।९, १८।२३, अथ० १३।४।४७, ९।५।२१, १२।१।१, १२।३।४६; १२।५।२, २०।९१।११, इत्यादि बहुतसे मन्त्र मनुष्यको आचार, विचार, नम्रता, सत्यभाषण इत्यादि नीतिका उपदेश करते हैं।

× × ×

२५—भूत-प्रेत-पितर

वेदके ऋषि ईश्वरका अस्तित्व मानते थे, शाश्वतका स्वीकार करते थे, पुनर्जन्म मानना उनके लिये अनिवार्य था। संभवतः इसीलिये लोग भूत, प्रेत, पितर मानते ही थे। मैंने पहले लिखा है कि अमुक अमुक मन्त्रोंसे पुनर्जन्म सिद्ध नहीं होता है। यह तो अलग बात है। किन्हीं मन्त्रोंसे न भी सिद्ध हो और किन्हींसे सिद्ध भी हो। मन्त्रोंके रचयिता अलग अलग हैं। सबके विचार भी अलग अलग ही थे। यह स्वाभाविक है। मैं स्वयं पुनर्जन्मको नहीं मानता।

शुक्ल यजुर्वेदके १६ वें (रुद्राध्याय) अध्यायमें एक मन्त्र है **'ये भूतानामधिपतयो विशिखास...।'** इसमें भूतशब्दका

प्रयोग है। उव्वटने **भूतानाम्** का अर्थ किया है। **प्राणिनाम्**। महीधरने अर्थ किया है—'**भूतानां देवविशेषाणाम्**···**अन्तर्हित-शरीराः सन्तो मनुष्योपद्रवकरा भूताः।**' एक ही शब्द है। दो अर्थ है। कौन सत्य है, इसे विद्वान् स्वयं सोचे। मै भूत-प्रेत आदि ऐसे प्राणियोमे विश्वास नहीं करता जो, कहा जाता है कि, मनुष्योको **लग जाते हैं** और हैरान करते है। मैं पुनर्जन्म नहीं मानता तो भूत-प्रेत मानना बहुत दूर चला जाता है। यह एक आश्चर्य ही है कि कुत्ते, बिल्ली, गधे मरकर भूत नहीं बनते है और मनुष्य जैसा बहुज्ञ प्राणी मरकर भूत हो जाता है—स्वयं दुःखी होता है—अन्योको दुःखी करता है।

ऐसे ही प्रेत भी मेरी दृष्टि और मेरी सृष्टिमें नहीं है।

रह गये पितर। मेरी दृष्टिमे तो पितरोका अस्तित्व है ही नहीं। यहाँसे मरकर जीव पितृलोकमें जाता है, वहा रहता है, वह पितृसञ्ज्ञा प्राप्त करता है। ऐसा कुछ भी मैं नहीं मानता।

अथर्ववेदका १८ वा काण्ड पितरोसे भरा पड़ा है। कई प्रकार-के पितरोका उसमे वर्णन है। अनेक अर्थोंमे पितृशब्दोका वहा प्रयोग हुआ है। इस काण्डके मनन करनेसे पता चलता है कि पितर पृथिवीपर भी रहते है और पितृलोक विशेषमें भी रहते हैं। पितृलोकमें जानेके मार्गको पितृयाण कहते है। बहुतकाल तक वे वहा रहते है। क्या करते हैं पता नहीं। **यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते**। इस मन्त्रमें आया हुआ पितर शब्द भी यदि उन्हीं मृतपितरोके लिये आया हो तो कहा जा सकता है कि वह सब पितृलोकके महाविद्यालयोमें विद्याकी उपासना करते होगे—विद्या पढ़ते होगे।

पितरोंके सम्बन्धमें, उनके पिण्डोदकके सम्बन्धमें आर्यसमाज और पौराणिक समाजमें बहुत संघर्ष हो चुके हैं। अब भी तो होते ही रहते है। मै दोनोमेंसे एक भी नहीं, अतः मेरा मत अलग हो जाता है। श्रीभगवद्गीतामें अर्जुनने **लुप्तपिण्डोदकक्रियाः** से पितर और पिण्डोदककी बात तो उठायी थी। श्रीकृष्णके कानोंतक वह बात बहुत स्पष्टरीतिसे पहुँची थी। परन्तु उसके उस बातको वह **वैसे** ही पी गये हैं **जैसे** शङ्करजीने विषको पी लिया था। मुझे तो विश्वास है कि श्रीकृष्णभगवान् पितृलोक, पितर, उनके लिये पिण्ड आदि कुछ भी यदि मानते होते तो अर्जुनको जैसे अन्य कितने ही उपदेश उन्होने दिये है—पितरोंके सम्बन्धमे भी वह कुछ अवश्य कहते।

वेदाभ्यासी एक सज्जन पूछते है कि—

प्रश्न—अग्नेऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः, अङ्गिरसोथर्ववेदः। इस शतपथवचनको प्रमाण माननेवालेके मतसे यह माना जायगा कि ऋग्वेद अग्निऋषिका बनाया हुआ है, यजुर्वेद वायु ऋषिका बनाया हुआ है, सामवेद आदित्य ऋषिका और अथर्ववेद अङ्गिरा ऋषिका बनाया हुआ है। तब उनसे यह पूछा जाय कि—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्॥

त्रिंशद्धाम वि राजति वाक्पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः॥

ये मन्त्र ऋग्वेदमे (१०।१८९।१-३), शुक्लयजुर्वेदमे (३।६—८) तथा सामवेदमे (६३०—३२) आये हुये हैं। इन मन्त्रोका रचियता अग्नि, वायु और आदित्यमे से कौन है?

उत्तर—यज्ञकालमे दूसरे वेदोके मन्त्र दूसरे वेदोके कर्ममे प्रयुक्त होते थे। इसीलिये कितने ही मन्त्र एक ही आनुपूर्वीसे चारो वेदोमे, कितने ही तीन वेदोमे मिल गये है। गायत्री-मन्त्रकी भी यही दशा है। पुरुषसूक्तकी भी यही दशा है। परन्तु एक बात ध्यानमे रखनी चाहिये कि ऋग्वेद सर्वप्रथम वेद है। इसमे किसीको भी विप्रतिपत्ति नही है। शतपथवाले पाठमे भी **अग्नेर्ऋग्वेदः** पढा गया है। वेदोके नाम जहॉ जहॉ उपलब्ध होते हैं उनमे ऋग्वेद सबसे प्रथम श्रुत है। अतः ऋग्वद सबसे प्राचीन वेद है। उसीके मन्त्र अन्य तीनो या दोनो वेदोमे कालक्रमसे मिल गये हैं।

प्रश्न—यही क्यो न माना जाय कि अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा ये चार ऋषि नहीं हैं प्रत्युत एक ही परमात्माके ये चार नाम हैं। अतः चारो वेद ईश्वर रचित ही है। ऋषिप्रणीत नहीं।

उत्तर—ऐसा इसलिये नहीं माना जा सकता कि यदि एक ही ईश्वरसे चारो वेदोकी उत्पत्ति हुई होती तो अलग अलग चार नाम गिनानेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं थी।

'अग्नेर्ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्ववेदश्च' इतना ही कहना पर्याप्त था। किञ्च प्राचीन लोग तो वेदोको ईश्वररचित भी नहीं मानते क्योंकि ऐसा माननेसे उनका अभिमत अनादित्व नष्ट हो जाता है—नित्यत्व भी समाप्त हो जाता है। क्योकि **कृतकम् अनित्यम्** जो बनाये जाते है वह सब अनित्य होते हैं। अतः उनके मतसे वेद ईश्वररचित नहीं प्रत्युत ईश्वरोपदिष्ट हैं। जैसे

ईश्वरोपदिष्टत्व वेदोके लिये एक मत है, वैसे ही उनके लिये ऋषिप्रणीतत्व भी एक मत है। दोनो मतोमे दोष हैं, दोनोमे परिहार है।

प्रश्न—साहित्यकार भाषामे सरसता लानेके लिये एक अर्थमे भी एक ही शब्दको बार बार नहीं दुहराते प्रत्युत उसका पर्याय शब्द ही रखते हैं। शतपथमे भी यही क्रम है। एक ही परमात्माके चार नाम अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा लिखे हैं। किंच ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमे अग्नि शब्द पढ़ा हुआ है और देवता भी उसका अग्नि ही है। एवम् यजुर्वेदमे वायु शब्द पठित है और देवता भी उसका वायु ही है। अत एव यह भी हो सकता है कि इन्हीं दो हेतुओसे **अग्नेर्ऋग्वेद', वायोर्यजुवेदः** लिखा गया हो।

उत्तर—यह होता तो है कि एक ही शब्दके अनेक पर्याय-वाचक शब्द एक ही मन्त्र या श्लोकके लिखे जाते है, परन्तु ऐसा वहाँ ही होता है जहाँ अर्थभेद या अर्थभ्रमकी सम्भावना नहीं होती। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रको ही ले लिया जाय। उसमे **अग्निम् , पुरोहितम् , देवम् , ऋत्विजम् , होतारम् , रत्नधातमम्** ये शब्द पठित हैं। इनका अर्थ भी परमात्मा हो सकता है, परन्तु यहाँ दो प्रकारके अर्थ हैं। आध्यात्मिक और आधिभौतिक। अतः दोनो अर्थोंमे शब्दभेदसे लाभ ही है, हानि नहीं। अग्नि आदि ६ शब्दोसे भिन्न भिन्न अर्थ धर्म, गुणादिकी प्रतीति होती है। अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरामे ऐसा नहीं है। अग्नि, वायु, अङ्गिरा ये तीनो ही शब्द गत्यर्थक धातुओसे बने हैं। अर्थभेद असम्भव है।

ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमे अग्निशब्द पठित है और यजुर्वेदके प्रथम मन्त्रमे वायुशब्द पठित है अत एव **अग्नेर्ऋग्वेदः**

वायोर्यजुर्वेदः लिखा गया है, ऐसा नहीं है। तब तो सामवेदके लिये भी **अग्नेः सामवेदः** ही लिखना चाहिये था, क्योकि वहा भी **अग्न आयाहि** इस प्रथम मन्त्रमे अग्निशब्द ही है। यह कल्पना उचित नहीं है।

प्रश्न—चारो वेदोके रचयिता चार ऋषि कभी माने नहीं जा सकते, चारोका रचयिता एक ही है।

उत्तर—माने जानेकी बात तो पृथक् है, गवेषणाकी बात पृथक् है। चार ही क्यो ? वेदरचयिता अनेक ऋषि ही क्यो न मान लिये जायँ ? वेदोमे कोई क्रमिक विषय नहीं है। एक ही विषयको एक ही प्रकारसे कहनेवाले अनेक मन्त्र हैं। उन अनेक मन्त्रोके अनेक ऋषि भी हैं। अतः यह भी एक मत प्रवृत्त है कि जिन मन्त्रोपर जिन ऋषियोके नाम है वे ही उनके रचयिता भी हैं। इस मतके विरुद्ध औचित्यपूर्ण शब्द आजतक एक भी उच्चरित नहीं हुआ हैं।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः इस निरुक्तवचनका स्पष्ट अर्थ तो मन्त्रको देखनेवाला इतना ही है। इसके भावमे, तात्पर्यमे विवाद है। एक पक्ष कहता है कि द्रष्टाका अर्थ रचयिता ही होता है, अर्थानुसन्धानकर्ता नहीं होता है। दूसरा पक्ष कहता है कि द्रष्टाका अर्थानुसन्धानकर्ता ही अर्थ होता है; रचयिता नहीं। अर्थानुसन्धान कोई नियत वस्तु नहीं है कि उन ऋषियोका नाम नियतरूपसे वेदमन्त्रके साथ जोड़ दिया जाय। किस ऋषिने किस मन्त्रका क्या अनुसन्धान किया है, यह भी स्पष्ट नहीं है। स्पष्ट किया जाय तो भी यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि अमुक मन्त्रका अमुक ही अर्थ है, अन्य नहीं। तब मन्त्रद्रष्टाका नामोल्लेख व्यर्थ

ही है। वस्तुतः वे सब ऋषि उन मन्त्रोके रचयिता ही हैं। अत एव उनका नाम उनके साथ जुडा हुआ है।

प्रश्न—आपने अपनी सामवेदभाष्यभूमिकामे लिखा है कि ऋग्वेद सर्वप्रथम वेद है इसे आप कैसे सिद्ध करते है ?

उत्तर—आज तक सभी विद्वान् ऋक्, यजुः, साम, अथर्व इसी क्रमसे वेदका नाम लिखते और बोलते आये हैं। अभ्यर्हितका ही नाम प्रथम लेनेकी परम्परा है। ऋक्का नाम सर्वप्रथम श्रुत है अतः मै ऋग्वेदको सर्वप्रथम वेद मानता हूँ। मै यह भी मानता हूँ कि ऋग्वेदसंग्रह एक ही दिनमे नहीं हुआ है, क्रमसे उसके आकारकी वृद्धि हुई है। जितने समयमे ऋग्वेद सम्पूर्ण किया गया उतने समयमे ही उसीके मन्त्रोसे सामवेद भी तैयार कर लिया गया था। अत एव समकालीन होनेसे ऋग्वेदमे भी सामके नाम आ गये है। सभी वेदोकी प्रतिष्ठा और मर्यादा समान है। परस्पर विरोधी कोई नहीं। अत एव अपने समकालिक सामवेदका नाम ऋग्वेदमे आया है। इससे यह परिमाण नहीं निकाला जा सकता कि सामवेद ही सबसे प्राचीन और प्रथम वेद है। मन्त्रोमे पाठभेद होना तो अत्यन्त स्वाभाविक है। अतः ऋग्वेद और सामवेदके मन्त्रोमे पाठभेद उपलब्ध हैं। सामवेदके मन्त्रोमे कुछ शब्द ऐसे भी हो सकते है जो प्राचीनता द्योतक हो और ऋग्वेदमे ऐसे शब्द भी हो सकते है जो नवीनताके द्योतक हो, परन्तु इतनेसे ही ऋग्वेद नवीन और सामवेद प्राचीन नहीं कहा जा सकता। यह भी कहा जा सकता है कि नवीन पाठवाला मन्त्र सामवेदका ही था परन्तु पाठकोकी असावधानीसे वह ऋग्वेद-मे पढ़ लिया गया और ऋग्वेदका प्राचीन पाठ-द्योतक शब्द-पदवाला मन्त्र सामवेदमे पढ़ लिया गया।

यदि किसीका आग्रह यही हो कि सामवेद ही प्रथम वेद है, तो

मुझे कोई आग्रह नहीं है। समस्त विद्वान् ऐसा ही मानने लग जायं तो मुझे मेरा मत बदलनेमे कोई भी प्रत्यवाय नहीं लगेगा। परन्तु तब मैं या कोई भी विद्वान् कहेगा कि सामवेद सबसे प्राचीन वेद है अतः उसके मन्त्र ऋग्वेदमे संगृहीत हुए हैं और अन्य मन्त्र पीछेसे बढ़ाये गये है। दोनो वेदोके मन्त्रोमे साम्य है अतः इसका कुछ भी तो कारण ढूंढ़ना चाहिये। कहीं-कहीं पाठभेदसे मन्त्रान्तर नहीं सिद्ध किया जा सकता। सामवेदमे ऐसे मन्त्र थोड़े ही है जो ऋग्वेदके पाठसे प्रतिकूल पाठ रखते है। यदि वेद ईश्वरीय ही है तो यह मानना पड़ेगा कि ईश्वरके शब्द-भण्डारमे दूसरे शब्द नहीं थे अतः इन दोनो वेदोमे साम्य आ गया है। किंच जो लोग यही मानते है कि वेद ईश्वरोपदिष्ट ही है उनके मत से तो प्राचीनता, नवीनता, संग्रह आदिका विचार नहीं किया जा सकता।

प्रश्न—वेदमन्त्रोके साथ एक या दो या कहीं तीन ऋषियोके नाम भी आते है। कभी कभी तो वेदमन्त्रोके ऋषियोके नाम मन्त्रोमे भी आते है। परन्तु इससे भी उन मन्त्रोको उन ऋषियोका रचित नहीं माना जा सकता। क्योकि उन ऋषिनामोका अन्य अर्थ भी होता है। यथा—**अमहीयु**—पृथिवीकी नहीं, द्युलोककी पहुँच रखनेवाला। **मधुच्छन्दाः**—मीठे संकल्पवाला। **कश्यप**—द्रष्टा। **जमदग्नि**—जलता हुआ अग्नि, परमात्मा। **दृढच्युत**—बलपूर्वक हिला देनेवाला। **असित**—बन्धनरहित। **श्यावाश्व**—वृद्ध ज्ञानवाला, इसी तरहसे **श्रद्धा, अरिष्टनेमि, अर्चन, विश्वामित्र, विष्णु** इत्यादि ऋषिबोधक शब्दोका भी अन्य अर्थ होता है।

उत्तर—यहापर प्रश्न थोड़ा सा असङ्गत हुआ है। बताना यह चाहिये कि **अमहीयु** किस मन्त्रका ऋषि है और जिस मन्त्रका वह

ऋषि है उसी मन्त्रमे **अमहीयु** पद आया है या नहीं ? यदि आया है तो वहा **पृथिवीकी नहीं, द्युलोककी पहुंच रखनेवाला** यह अर्थ संगत होता है या नहीं ? ये सब भी विचारणीय हैं। **अमहीयु** शब्द ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेदमे तो नहीं ही आया है परन्तु इस नामका ऋषि उपस्थित है। **मधुच्छन्दा** यह पद भी वेद मन्त्रोमे उपलब्ध नहीं हो रहा है परन्तु ऋषि है। **जमदग्नि** इस नामका ऋषि भी है और यह पद वेदमन्त्रमे भी कई बार आया है। अस्तु, विचार तो यह करना है कि **जमदग्नि** यह शब्द मन्त्रमे आ गया तो इसका अर्थ बदल गया या नहीं ? वस्तुतः अर्थ बदलता नहीं है, बदल दिया जाता है। परन्तु इससे हुआ क्या ? अर्थ बदल दिया तो इसमे कोई विवाद नहीं है। जमदग्नि ऋषि है, वहा विवाद है। एक पक्ष यह है कि जिस मन्त्रके साथ जिस ऋषिका नाम लिखा हुआ है या पठित है वही ऋषि उस मन्त्रका निर्माता है। इस कथनका कोई उत्तर नहीं दिया जा रहा है। मन्त्रमे भी उस ऋषिका नाम आया है एतावता उस मन्त्रका कर्ता वह ऋषि है, यह नहीं कहा जा रहा है। कहा यह जाता है कि मन्त्रके साथ जो नाम जिस ऋषिका पठित है वही ऋषि उस मन्त्रका कर्ता है।

यदि यह कहा जाय कि वह ऋषि उस मन्त्रका कर्ता नहीं, द्रष्टा है तो प्रश्न यह है कि उसने उस मन्त्रमे क्या देखा ? उसने कोई ज्ञान विज्ञान उस मन्त्रमे से ढूँढ़ निकाला हो तो उसका निर्देश होना चाहिये। यह कार्य आज तक किसीने नहीं किया है। अतः बहुत सरल सी बात है कि तत्तत्मन्त्रके ऊपर लिखित तत्तत् ऋषि उस उस मन्त्रके कर्ता ही हैं, द्रष्टा नहीं।

तब यह पूछा जा सकता है कि तब वेद अनादि और अनन्त नहीं कहे जा सकते। क्योकि वे ऋषिप्रणीत हुए। उत्तर यह है कि

अनादि और अनन्त न माने जायं तो कोई हानि नहीं, लाभ ही है। प्रत्येक सृष्टिमे अशुद्ध पदोवाले मन्त्रोका उच्चारण करना, पश्चात् प्रत्येक सृष्टिमे पाणिनिको उत्पन्न करके अशुद्ध पदोको शुद्ध बनाना, यह बहुत कठिन और निरर्थक काम है। वेदको प्रामाणिक ग्रन्थ होनेकी आवश्यकता है, ईश्वरीय होनेकी नहीं। ईश्वरीय होनेसे वे ग्राह्य नहीं है, उपयोगी होनेसे ग्राह्य हैं। वेदो की उपयोगिता ही उनकी प्रामाणिकताका ज्ञापक है। अत एव नैयायिकादि जो शब्दको अनित्य मानते है उनके मतसे भी वेद अनित्य ही हैं क्योकि वेद शब्दराशिके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है अतः वे अनित्य नहीं हो सकते क्योकि ईश्वर अनित्य नहीं है। इसका उत्तर यह होगा कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है तो वह ईश्वरमे किस सम्बन्धसे रहते हैं? समवाय सम्बन्धसे ही ज्ञानका ज्ञानीमे होना माना जा सकता है। धर्मधर्मीका नित्य सम्बन्ध सर्वत्र स्वीकृत है। तब वह ईश्वरीय ज्ञान धर्म्यन्तरमे नहीं जा सकते। अग्नि, आदित्य, अङ्गिरा आदिमें भी तब वह नहीं जा सकते।

यदि कहे उपाधिवशात् अन्य धर्मीका धर्म धर्म्यन्तरमे भी प्रसक्त होता है, यथा अग्निकी दाहकता अग्नि—जल संयोगसे जलमे भी संक्रान्त होती है। ऐसे ही ईश्वरीय ज्ञान भी अग्निवाय्वादि धर्म्यन्तरमे संक्रान्त हो सकता है। तब प्रश्न यह होगा कि ईश्वर और अग्निके मध्यमे उपाधि क्या है? देश और कालको तो उपाधि मानना व्यर्थ है क्योकि वह केवलान्वयी है। केवल ईश्वरेच्छाको ही उपाधि मान सकते हैं। परन्तु ईश्वरप्रतिपादक विद्वान् यह मानते हैं कि ईश्वर नित्य है और उसके इच्छादि गुण भी सभी नित्य है। इस पक्षमे नित्य इच्छा उपाधि नहीं बन सकता। उपाधि सर्वदा अनित्य ही होता है। नैयायिकोका उपाधि "साध्यव्यापकत्वे

सति साधनाव्यापकः" (उदयनाचार्य) प्रकृतमे उपयोगी है भी नहीं। अद्वैत वेदान्तका उपाधि भी यहा अनुपयुक्त ही है। अतः ईश्वरेच्छाको उपाधि नहीं मान सकते। अतः ईश्वरीय ज्ञान ईश्वरमे ही समवायसम्बन्धसे रहता है। वहा ही रह सकता है। अध्यापनको उपाधि मानें तब भी मार्ग नहीं मिलता है, क्योकि अध्यापनका जो अर्थ आज निर्णीत है उनके अनुसार—**गुरूच्चारणानूच्चारण** को अध्ययन कहते हैं। उच्चारण करानेको अध्यापन कहते है। ईश्वरने ऐसा किया नहीं है। न तो ईश्वरने वेदोका उच्चारण किया है और न किसीने उसके उच्चारणका अनुकरण किया है।

यह भी पूछा जा सकता है कि यदि ज्ञान अपने अधिकरणमे समवायसम्बन्धसे ही रहता है तो '**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः** इत्यादिमे ज्ञानोपदेशका सम्भव कैसे हो सकता है। एवं, गुरु शिष्यको ज्ञानदान देता है, वह भी कैसे युक्त हो सकता है? इसका उत्तर यह होगा कि गुरु अपने ज्ञानको शिष्यमे संक्रा त नहीं कराता है। वह तो केवल अपने ज्ञानके अनुसार शब्दप्रयोग करता है। उस शब्दप्रयोगसे शिष्यको ज्ञान उत्पन्न होता है। वह शिष्यनिष्ठ ज्ञान है, गुरुनिष्ठ नहीं।

अतः वेद ईश्वरीय ज्ञान नहीं हैं। ईश्वरोपदिष्ट भी नहीं है। वह ऋषिप्रणीत ही है। उनको जो अपौरुषेय कहा या माना जाता है वह तो सर्वतन्त्र–सिद्धान्तानुकूल नहीं है। अपौरुषेयका अर्थ "पुरुषप्रयत्ननिर्मित जो न हो वह ग्रन्थ" इतना ही नहीं है। नैयायिक, वेदान्ती, मीमासक अपने अपने ढंगसे पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्वका विवेचन करते हैं। वेदोने कहीं भी नहीं कहा है कि वेद अपौरुषेय हैं।

तब एक और प्रश्न यह होगा कि यदि वेद ईश्वरीय नहीं है तो वे

स्वतःप्रमाण कैसे माने जायंगे ? परन्तु इसका भी उत्तर बहुत सीधा है। वेदोका स्वतःप्रामाण्य भी वेदोक्त नहीं है, मनुष्योक्त है। मनुष्यकी बात कोई मनुष्य माने कोई न भी माने। उपनिषदोने लिखा है कि **तस्माद्वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः**—आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ। अर्थात् औपनिषद मतके अनुसार आकाश जन्य और अनित्य है। नैयायिकोने आकाशको अजन्य और नित्य माना है। वेदोने भी **ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्**—इस प्रकरणमे अन्तरिक्षको जन्य ही माना है। अन्तरिक्ष ही आकाश है।

अतः बहुत ही सरल और प्रामाणिक उत्तर यही है कि वेद ऋषिप्रणित ही है, ईश्वरीय नहीं है।

प्रश्न—एक बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय है कि वेदमन्त्रोके साथ उन ऋषिनामो या शब्दोका स्मरण रखनेका क्यो विधान है ? छन्दको स्मरण रखनेका विधान तो इस लिये है कि उस छन्दके अनुसार पाठ करनेपर स्वरभंग नहीं होगा। परन्तु ऋषिको स्मरण रखनेका विधान क्यो ?

उत्तर—अभी तक आपको भी नहीं पता है कि वेदमन्त्रोके साथ ऋषिनामोका स्मरण क्यो करना। अन्य भी किसी विद्वान्को पता नहीं लगा कि वैसा क्यो करना।

मै कारण बताता हू तो आपके गले नहीं उतरता है। ठीक ठीक कारण यही है जो मै ऊपर कह आया हू। मन्त्रोका स्मरण तो रखना ही है। परन्तु साथ ही उनके कर्ताका नाम भी स्मृत रहे तो अत्युत्तम। उपकारस्मृति बनी रहे, इसी लिये ऋषियोके नामका स्मरण करना वैदिकोने लिखा है। अन्य कोई कारण नहीं है।

छन्दोका स्मरण स्वर अर्थात् रागकेलिये नहीं है प्रत्युत, कितने ही छन्दोंमे अक्षर या तो अधिक हैं और या तो कम हैं। उन्हे किस छन्दमे गिनना, यह प्रश्न था। इसकी समाधिके लिये छन्द-

का नाम लिख दिया गया उसका स्मरण रहे तो अच्छा ही है। एक उदाहरण। **तत्सवितुर्वरेण्यम्** यह गायत्री छन्द है। इस छन्दमे २४ अक्षर होने चाहिये। इस मन्त्रमे २४ अक्षर नहीं है। अतः संशयका होना स्वाभाविक है कि यह मन्त्र किस छन्दमे होगा। अतः रचयिता ऋषिने लिख दिया "गायत्री छन्द"। जैसे आज कल लिखा जाता है कि यह गायन ठुमरी है या त्रिताल है, या ग़ज़ल है, वैसे ही पहले लिखा जाता था।

रागभङ्ग नहीं होनेके लिये छन्दोनिर्देश नहीं है। राग तो अनेक हो सकते हैं। एक अनुष्टुप् या एक शिखरिणी, ऐसे ही अन्य छन्द भी अनेक रागोमे गाये जा सकते हैं। वेद पढ़ाते समय ईश्वरने राग तो नहीं सिखाया होगा। सामवेदको गाकर तो उसने नहीं ही पढाया होगा। मन्त्रोके ऊपर स्वरका ज्ञान तो उसने नहीं ही कराया होगा। **उदात्तादि** स्वरोका निर्देश कैसे करना, नीचे ऊपर चिह्न कैसे करना,यह सब ईश्वर नहीं ही सिखा सका होगा। यह सब असम्भव है। ईश्वर न तो गवैया है और न सितार बजानेवाला है। वह न तो अध्यापक है और न मास्टर है। यदि वह है तो केवल ईश्वर है। स्वर और छन्द सिखानेमे समय न बिताकर यदि वह सर्वान्तर्यामी बनकर काम क्रोधादिसे, असत्यभाषणादिसे, पापकर्मादिसे जीवोको पृथक् रखनेका कार्य करता रहता तो स्वर्ग और नरक बनानेकी आफ़तमे उसे न पड़ना होता।

प्रश्न—**सोमः प्रथमो विविदे'** ऋ० १०। ८५। ४०॥ इस मन्त्रके अर्थमे विद्वानोमे विवाद है। इसका अथ आप कैसा करते हैं ?

उत्तर—अवश्य ही यह मन्त्र विभिन्न विचारोका केन्द्र बना हुआ

है। स्वामी श्रीदयानन्दजीने सत्यार्थप्रकाशमे इस मन्त्रको नियोग-परक वर्णित किया है। अन्य विद्वानोके मतसे इस मन्त्रका अन्य भी अर्थ है। मेरी दृष्टिमे वेदको ईश्वरीय माननेवालोके पक्षसे नियोग-का इस मन्त्रसे प्रतिपादन अत्यन्त अयुक्त है। ईश्वरीय ग्रन्थमे सनातन वस्तुका ही उपदेश होना चाहिये। नियोग सनातन वस्तु नहीं है। आज तो इसका कहीं भी पता नहीं है। मै अभी तक नहीं जान सका हूं कि किसी आर्यसमाजी बन्धुने भी नियोगकी प्रथाका आश्रय लेकर सन्तानोपत्ति की हो। सन्तानका उत्पन्न करना धार्मिक दृष्टिसे अनिवार्य नहीं होना चाहिये। वंशवृद्धि और वंशपरम्पराकी स्थिति भी न तो अनिवार्य है और न स्थिर वस्तु है। कितने ही वंश आये और समाप्त हो गये। किसीका वंश सौ वर्षोंतक भी प्रायः नहीं ही चलता है। अतः वंश चलाना या वंश बढ़ाना यह अनिवार्य न धर्म है और न कर्म है। इसके लिये वेदोको कष्ट नहीं देना चाहिये। इससे वेदोके गौरवकी वृद्धि नहीं प्रत्युत हानि है।

अतः वेदोमे जहाँ ऐसे मन्त्र आवें उनके लिये अधिक तप और अधिक श्रम अपेक्षित हो जाते हैं। जैसा तैसा अर्थ कर लेनेमे या अर्थ कर देनेमे सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाती है। इतना ही नहीं, वेदोका भी उपहास होता है। यद्यपि मै वेदोको ईश्वरीय नहीं मानता हूं—मानवरचित ये ग्रन्थ है, ऐसी मेरी दृढ धारणा है। यही मेरा निश्चित मत है। परन्तु मानवीय ग्रन्थ होनेपर भी ये हिन्दुधर्मके माननीय ग्रन्थ तो है ही। स्वतःप्रामाण्य इन्हे अनादिकालसे प्राप्त है। किसी भी आर्यशास्त्रको इनके स्वतः-प्रामाण्यमे विप्रतिपत्ति नहीं है। इन्हे स्वतःप्रामाण्य केवल इस-लिये प्राप्त है कि ये प्राचीन ग्रन्थ है। बहुतसे ग्रन्थ—ब्राह्मणादि इनके ही आधारपर रचे गये थे। अतः इन्हे ही धर्मका—आचार-

का मूलग्रन्थ माना गया। इसीका नाम है स्वतः प्रामाण्य। धर्मके ऐसे प्रतिष्ठित ग्रन्थमे ऐसी प्रथाको ढूँढ निकालना जो केवल जाङ्गलिक ही मानी जा सकती है, अत्यन्त अनुचित है। मै इन मन्त्रोका क्या अर्थ समझ सका हूँ, उसे कहता हू।

मै पहले ही कह चुका हूँ कि वेद ईश्वरीय ग्रन्थ नहीं, मानवीय ग्रन्थ हैं। वे ईश्वरोपदिष्ट नहीं है, मानवोपदिष्ट हैं। अतः वेदोमे अवश्य ही इतिहास भी भरे पड़े है। ऋग्वेदके १०वें मण्डलके ८५वें सूक्तमे एक सूर्यानामक कन्याका वर्णन हुआ है। उसी सूक्तमे **'सोमः प्रथमो विविदे'** यह विवादास्पद मन्त्र पढ़ा हुआ है। सारे सूक्तके पढ जानेके बाद, उसका मनन कर लेनेके बाद स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह मन्त्र न तो किसी इतिहासको कहता है और न नियोगप्रथाका आदेश और प्रचार करता है। मेरी दृष्टिमे यह सूक्त आलङ्कारिक पद्धतिसे एक अध्यात्मतत्त्वका संकेत कर रहा है। मै संक्षेपमे उसका यहाँ वर्णन करता हूँ।

सूर्या सविताकी पुत्री है। सूर्या अतीव सुन्दरी (ऋ० १०।८५।३५) और तरुणी (१०।८५।९) थी। उसको चाहनेवाले अनेक (१०।८५।९) थे। सविताने अपनी कन्या सोमको (१०।८५।९) दे दी। सोम अपनी पत्नी सूर्याको अपने घर ले चला। पिता सविताने अपनी पुत्रीके मनोविनोदके लिये रैभी नामकी एक दासी (१०।८५।६) सूर्याको दे दी। उसे रथपर बैठा दिया (१०। ८५।१०)। उस रथका इसी सूक्तमे इस प्रकारसे वर्णन है—"सूर्याका मन ही रथ था (१०।८५।१२)। द्युलोक ही रथके ऊपर छायाके लिये आवरण था। तेजस्वी दो बैल थे (१०।८५। १०)। उस रथके अथवा उस शकटके चक्र दो श्रोत्र थे (१०।८५। १२)। स्तोम ही उस शकटके इषा, अर आदि (१०।८५।८)

थे। कुरीर छन्द ही उस शकटमें आरामसे बैठनेका स्थान (१०। ८५। ८) था। इसी सूर्याके लिये यह मन्त्र है—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥१०।८५।४०॥

"हे सूर्ये, सोम तेरा प्रथम पति है, गन्धर्व उत्तर पति है, अग्नि तृतीय पति है और चौथा पति मनुष्य है।"

यहाँ **सोम, गन्धर्व, अग्नि** और **मनुष्यजा** ये चार नाम आये हैं।

सोम—सोमअर्थात् शान्त अर्थात् सत्त्वगुण।

गन्धर्व—गा दधातीति। गन्धर्व अर्थात् राजा अर्थात् रजोगुण।

अग्नि—दाहक अर्थात् तमोगुण।

मनुष्यजाः अर्थात् मनुष्य।

सूर्याका पिता **सविता** है।

सूर्या अर्थात् दिव्यशक्ति, दिव्यदृष्टि।

सविता अर्थात् सदाचार्य, महागुरु।

सदाचार्यने दिव्यदृष्टि सोमको दी। सोम अर्थात् सत्त्वगुण। सत्त्वगुणसे तात्पर्य सत्त्वगुणवान्से है। सात्त्विक गुणवाले या सात्त्विक धर्मवाले शिष्यको आचार्यने दिव्यदृष्टि दी। वह दिव्य-दृष्टि मनरूप शकटपर चढ़कर अपने पतिके घर जानेको निकली। पति अर्थात् पालयिता अर्थात् रक्षक। दिव्यदृष्टिकी जो रक्षा कर सके, वही उसका पति है। सत्त्वगुणवालेके यहांसे दिव्यदृष्टि आगे चली। रजोगुणवालेके पास पहुँची। वह रजोगुणी पुरुष था

तो रजोगुणप्रधान परन्तु **उत्तर** था **उत्कृष्टतर** था। दिव्यदृष्टि वहां भी रक्षित हुई। आचार्यकी ही आज्ञासे वह अब आगे चली। अग्नि मिला। अग्निसे तात्पर्य दाहकका है। तमोगुण मनुष्यके जीवनतत्त्वको जला देता है। अतः अग्निसे यहांपर तात्पर्य है तमोगुणसे। तमोगुणका तात्पर्य है तमोगुणी जीव। दिव्यदृष्टि वहां भी गयी। वह तृतीय था यहां **तृतीय** का अर्थ तार्य है। **तृ प्लवनसन्तरणयोः**। दिव्यदृष्टिने उसे भी—तमोगुणको भी—तमोगुणवालेको भी अपने माहात्म्यसे अपना पति बनाया—अपना रक्षक बनाया अर्थात् सात्त्विक, राजस, तामस सभी प्रकारके मनुष्य दिव्यदृष्टिके अधिकारी है। जिसमे जो न्यूनता हो उसका अपाकरण करके दिव्यदृष्टि वहा अपना स्थान बना लेती है। सूर्या आगे चली। दिव्यदृष्टि आगे बढ़ी। वेदने सामान्यरूपसे कह दिया कि **तुरीयः**—गतिमान् सभी **मनुष्यजाः** मनुष्यसे उत्पन्न होने वाले लोग तेरे पति हैं, तेरे रक्षक हैं। अर्थात् सभी तेरे अधिकारी हैं।

यहा पर थोड़ेसे विवादका शमन कर देना चाहिये। इस प्रस्तुत मन्त्रमे प्रथमः, तृतीयः, तुरीयः यह सब पहले, दूसरे, तीसरेके अर्थमे नहीं ही प्रयुक्त हैं। यदि ऐसा होता तो **उत्तरः** के स्थानमे **द्वितीयः** पढ़ना चाहिये था। छन्दोभङ्ग होता तो ईश्वर उसे सुधार ही लेता। ऋषि भी सुधार लेते। अतः **प्रथमः** का अर्थ है **प्रख्यात**। **उत्तरः** का अर्थ है उत्कृष्ट। **तृतीयः** का अर्थ है तारणीय। **तुरीयः**का अर्थ है गतिमान्। **तुरीयति**का अर्थ निघण्टुकारने गति माना है। यह नैरुक्त धातु है। उसी तुरीय धातुसे तुरीयः शब्द बना है। **तुरीय**का अर्थ **चतुर्थ** नहीं है। सात्त्विक,

राजस, तामस सभी दिव्यशक्ति, दिव्यदृष्टिके अधिकारी है इतना कहकर उपसंहार किया गया है और उसमे कहा गया है कि मनुष्य-मात्र इस दिव्यदृष्टिके अधिकारी है। मनुष्यजा शब्दसे यहा पर यही अर्थ अभिप्रेत है अत एव मनुष्य न कहकर मनुष्यजा कहा है। मनुष्यका बच्चा बच्चा इस दिव्यदृष्टिका अधिकारी है। इतना ही कहनेमें वेदका तात्पर्य है।

सरतीति सूर्या। वह सरण करती है, एकसे दूसरेके पास और पुनः तीसरेके पास, चौथेके पास, पाचवेंके पास अर्थात् सर्वत्र जाती है, इस लिये वह सूर्या कही गयी है।

सूते इति सविता। उत्पादकको सविता कहते है। आचार्य–सदाचार्य दिव्यदृष्टिका उत्पादक है अतः आचार्य ही दिव्यदृष्टिका पिता है, जनक है।

पति शब्दसे केवल विवाहसम्बन्धसे स्वीकृत पुरुष ही नहीं लिया जाता। **पा रक्षणे**। पतिका अर्थ है रक्षक। अत एव भूपति और जगत्पति आदि शब्द प्रयुक्त हैं और वे सार्थक हैं।

अब देखिये सूर्या अपने पिताके यहासे जा रही है। जानेका सम्बन्ध कितना उत्तम है।

मन उसकी बैलगाड़ी है। उसमे तेजस्वी दो बैल हैं, सूर्य और चन्द्रमा ही उस गाड़ीमे जुते हुए बैल हैं। तात्पर्य दिन और रात्रिसे है। मन दिन और रातकी सहायतासे ही दिव्यदृष्टिको पाता है। इन्हीं दो बैलोकी सहायतासे मनरूप शकट चलता है। श्रोत्र–दोनो कान ही उसके चक्र हैं—पहिये हैं। पहिया न हो चक्र न हो तो शकट चल नहीं सकता। श्रोत्र न हो तो गुरुपदेश गृहीत नहीं हो सकते। स्तोम-स्तोत्र-ईश्वरगुणगान उस शकटके इषादण्ड और चक्रके अरे है। गाडीमे सुखसे बैठनेके लिए ओपश-स्थान

क्या है ? इसके उत्तरमे कहा गया है **कुरीरम् छन्दः।** **कुरीरम्** का अर्थ कर्म है। "**कृञ् उच्च**" इस सूत्रसे कुरीर शब्द बना हुआ है। क्रियते तत् कुरीरम्—जो किया जाय उसे **कुरीर** कहते हैं। कर्म किया जाता है अतः वही कुरीर है। छन्दका अर्थ अनुष्टुप् आदि छन्द नहीं है। यहाँ छन्दका अर्थ है **उत्तम, सुपूजित।** निरुक्तमे छन्दधातु पूजा अर्थमे पठित है। उसीसे यह छन्द शब्द व्युत्पन्न है। कुरीरम्-छन्दः का अर्थ हुआ उत्तम कर्म ही उसमे ओपश है। सूर्या—दिव्यदृष्टिका स्थान—उपवेशन स्थान उत्तम कर्म हैं। उत्तम कर्मक द्वारा ही सद्गुरुकृपासे दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है।

एक स्थान (१०।८५।११) मे ऋग्वेद और सामवेदको भी बैल बनाकर सूर्याके शकटमे जोड़ा गया है।

सम्भव है कि इस अर्थके प्रतिपादनमे मुझसे कोई त्रुटि हुई हो। परन्तु सत्य अर्थ यही है। इसी मेरी पद्धतिसे इस मन्त्रको उत्तम मन्त्र बनाया जा सकता है। इसी मार्ग से—

सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये।

१०।८५।४१॥

इस मन्त्रका भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

इसी मार्गसे

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥

१०। ८५। ४५

इस मन्त्रका भी पवित्र अर्थ निकल आता है।